ॐ

भूमिका

पिछले साल मैंने एक छोटी सी पुस्तक 'जीवन रहस्य' लिखी थी। उसमें मैंने पश्चिम के पाँच प्रसिद्ध दार्शनिको, अर्थात् सुकरात, एपिकटिटस, स्पीनोज़ा, नीटशे और गैटे के विचार उनके अपने शब्दो मे पाठको के सम्मुख रक्खे थे और यह आशा प्रकट की थी कि उसी प्रकार की एक पुस्तक आर्य साहित्य के आधार पर लिखने का यत्न करूँगा। 'जीवन ज्योति' उस आशा की पूर्त्ति का स्थूल रूप है।

आर्य साहित्य का आधार वेद पर है। "वेद का पढना, पढाना, सुनना, सुनाना सब आर्यो का परमधर्म है।" 'जीवन ज्योति' के पहिले अध्याय मे कुछ मन्त्र दिये गये है। मेरी इच्छा है कि पाठक इन मन्त्रो को याद कर ले और नित्य उनका पाठ किया करे। इससे उनके जीवन पर बहुत अच्छा प्रभाव पडेगा।

वेद के आधार पर जो साहित्य हमारे पुरुषाओ ने निर्माण किया है, उसमें उपनिषदो का स्थान बहुत ऊँचा है। उपनिषदो में प्रसिद्ध उपनिषद यह है —

बृहदारण्यक, छान्दोग्य, केन, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, कठ, तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर और मैत्रेय।

यजुर्वेद के चालीसवे अध्याय को भी एक उपनिषद समझा गया है, और इसके पहिले शब्द पर इसे ईशोपनिषद का नाम दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ऋषि ने अपना स्वतन्त्र उपदेश देने के स्थान पर इस अध्याय को ही अपने उपदेशो का विषय बना लिया, और यह इतना सर्वप्रिय हुआ कि सब उपनिषदो मे इसे उच्चस्थान दिया गया। 'जीवन

ज्योति' मे जो मन्त्र इस अध्याय से लिये गये है, उन्हे वेद के नीचे दिया गया है, उपनिषदो के बीच मे नही।

उपनिषद का अर्थ समीप बैठना है। उपनिषदो में वह शिक्षा दी गई है जो गुरु अपने पुत्र अथवा अधिकारी शिष्य को पास बिठा कर देता था। उनके विषय वे रहस्य है जिन्हे साधारण मनुष्य न समझ सकता है, न उनका अधिकारी है। उपनिषद शब्द उपनिषदो में बहुत कम आया है। बृहदारण्यक में तीन बार 'वेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान' का उल्लेख आता है। यहाँ विशेष पुस्तको या विशेष प्रकार के साहित्य की ओर सङ्केत किया गया है, परन्तु उपनिषदो की सूची नही दी गई है। मुण्डक उपनिषद मे लिखा है —"उपनिषद को धनुष और उपासना को तीर बनाये"। श्वेताश्वतरोपनिषद मे "वेदो के उपनिषद" का उल्लेख हुआ है। इन स्थानो पर उपनिषद का अर्थ ब्रह्मज्ञान अथवा रहस्य है।

उपनिषदो में दार्शनिक विचार और आचार-व्यवहार सम्बन्धी उपदेश मिलते है। उनमे भक्ति की शिक्षा भी है। आर्यावर्त्त के दार्शनिक साहित्य मे उपनिषद सबसे प्रथम है। पीछे जो दर्शन बनाये गये, वे उनके आधार पर बने। उपनिषदो और दर्शनो की वर्णन शैली मे अन्तर है। दर्शन अपने पक्ष मे हेतु देते है, प्रतिपक्ष की जाँच करते है, और उसके खण्डन में भी हेतु देते है। उपनिषदो में यह क्रम बरता नही जाता। उपनिषदो के लिखने या कहने वालो को जो कुछ सत्य प्रतीत होता है, उसे वे कह देते है। उस पर वाद विवाद नही करते। दूसरा अन्तर यह है कि दर्शनो की भाषा दार्शनिक है। वे शब्दो को तौल कर बोलते है। दर्शन सूत्रो के रूप मे है और बहुत थोडे शब्दो मे अपना अभिप्राय प्रकट करते है। उपनिषदो की भाषा कवियो की भाषा है, इसीलिये उन्हे दार्शनिक काव्य कहा जाता है। दार्शनिक विचारो के अतिरिक्त उनमें कर्तव्य और भक्ति का भी उपदेश है।

उपनिषदो के आधार पर तीन प्रकार का साहित्य पैदा हुआ। सबसे अधिक प्रसिद्ध आर्य दर्शन है। इनमे दार्शनिक विचारो का वर्णन है।

योग और साख्य आर्य दर्शनो में एक जोडा है। साख्य में अधिकतर ज्ञान का विषय है, योग में कर्म का। योग दर्शन के चार पाद या अध्याय है। पहिला पाद 'समाधिपाद' वताता है कि योग क्या है। दूसरा पाद 'साधन पाद' है। इसमें उन साधनो का वर्णन है जिनको वरत कर मनुष्य योग मे वर्णित उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है। तीसरे पाद (विभूति पाद) मे उन शक्तियो का वर्णन है जो योग करते हुए भिन्न भिन्न अवस्थाओ में प्रकट होती है। चौथे पाद (कैवल्य पाद) मे फिर अन्तिम अवस्था का वर्णन है, जो योग क्रिया का अन्तिम लक्ष्य है। मै ने पहिले दो पादो के कुछ सूत्र दिये है। उनके साथ कही कही सक्षेप से व्याख्या भी की गई है।

महात्मा वुद्ध ने आचार पर विशेप वल दिया और इसे ही सम्पूर्ण धर्म कहा। इस आचार मे उन्होने कर्मकाण्ड को कोई स्थान न दिया। इसके साथ ही व्राह्मणो की वडाई का भी अन्त करना चाहा। जव वुद्ध धर्म का प्रभाव फैला, तो व्राह्मणो ने उसका मुकावला करने का यत्न किया। वुद्ध धर्म में भक्ति के लिये कोई स्थान न था। इस कमी को दूर करने के लिये भगवद्गीता की रचना की गई। इसमे भक्ति पर वल दिया गया। परन्तु इस भक्ति को एक पुरुष के साथ वाँध दिया गया, और उस पुरुष को परमात्मा का पद दिया गया।

भगवद्गीता मे कर्म योग, ज्ञानयोग और भक्तियोग की शिक्षा दी गई है। जैसा मैने ऊपर कहा है, भक्ति के लिये ईश्वर के स्थान पर कृष्ण जी को रख दिया गया है और उन्हें ईश्वर ही वताया गया है। जो लोग कृष्ण जी अथवा किसी मनुष्य को भी ईश्वर का अवतार नही मान सकते, उनके लिये गीता का कुछ भाग किसी प्रकार की सहायता नही कर सकता। मै जव भगवद्गीता के मध्य के पाँच-छह अध्यायो को पढता हूँ, तो मुझे प्रतीत होता है कि मै एक सूखे रेतीले मैदान मे होकर निकल रहा हूँ, जहाँ धार्मिक

प्यास वुझाने के लिये पानी प्राप्य नही है। यही कारण है कि भगवद्गीता से श्लोक लेते हुये मुझे इन अध्यायो को छोडना पडा।

महाभारत एक वडी पुस्तक है। यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण पुस्तक एक मनुष्य की लिखी हुई नही। इसमे बहुत कुछ प्रक्षिप्त सामग्री है। महाभारत मे मुझे भीष्म के उपदेश वहुत सुन्दर और हितकर प्रतीत हुये है। यह उपदेश वह है जो भीष्म जी ने मृत्युशय्या पर से दिये थे। जर्मनी का दार्शनिक नीटशे कहता है कि सूर्य अस्त होते समय अत्यन्त उदारता से सोना चारो ओर विखेरता है। निर्धन से निर्धन मल्लाह भी उस समय सोने के चप्पू वरतता है। मरते समय हमारा हृदय उदार होता है। भीष्म के अन्तिम उपदेश उनके ज्ञान और अनुभव का निचोड है। उन उपदेशो में से कुछ मै ने 'जीवन ज्योति' मे उद्धृत किये है।

महात्मा वुद्ध का उपदेश 'धम्म पद' से दिया गया है। महात्मा वुद्ध सन्यासी थे। उनके उपदेश भी अधिकाश अपने भिक्षुओ के लिये थे। आर्य सस्कृति मे सन्यास का स्थान वहुत ऊँचा है। परन्तु समाज मे रीढ की हड्डी गृहस्थ होते है, सन्यासी नही होते। यदि कोई जाति सारी की सारी सन्यासी मण्डल वन जाय, तो वह जीवित नही रह सकती। आर्य जाति की निर्वलता का एक बडा कारण यह है कि आश्रमो मे गृहस्थ और वर्णो मे क्षत्रिय वर्ण का मूल्य हमने नही समझा। बुद्ध धर्म का प्रचार इसके लिये वहुत कुछ उत्तरदायी है। हाँ, जिन लोगो के लिये उनकी अवस्था के विचार से ये उपदेश दिये गये है, उनके लिये वहुमूल्य है।

पहिले अध्याय के अतिरिक्त इस पुस्तक में जो कुछ लिखा गया है, उसके सम्बन्ध मे मै यह नही कह सकता कि इसका प्रत्येक शब्द मेरे लिये पूर्ण सत्य है। तो भी, जव मैने उसे इस पुस्तक मे लिखा है, तो यह स्पष्ट है कि मैं साधारणतया उसे बहुमूल्य शिक्षा समझता हूँ। प्रत्येक पाठक इसमे से अपने लिये जो कुछ उसके हित के लिये उपयोगी होगा, देख लेगा। बीस पक्षी एक वाटिका मे प्रवेश करते है। उनमे से एक एक वृक्ष पर जा

बैठता है, दूसरा दूसरे पर। प्रत्येक अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार फलो को ले लेता है। यही आशा किसी पुस्तक के पाठको से भी की जा सकती है।

यदि मैं अपने अनुभव के आधार पर कोई बात पाठकों से कह सकता हूँ, तो वह यह है कि जीवन की उन्नति के लिये लगातार यत्न करने की आवश्यकता है। पहाड पर चढने के लिये आवश्यक है कि हमारा शरीर बलवान हो और हम धैर्य से काम कर सकें। ऊपर चढते समय पद पद पर पसीना गिरता है और साँस फूल जाता है। चढने की अपेक्षा, गिरना कितना सुगम है! खड्ड की ओर पाँव फिसलने भर की जरूरत है, और कुछ तो करना नही पडता। पृथिवी की आकर्पण शक्ति आप ही खड्ड की गहराई तक पहुँचा देती है। परन्तु इन दोनो मार्गो मे अच्छा मार्ग कौन सा है? परिश्रम करके ऊपर चढना अथवा बिना परिश्रम नीचे खड्ड में जा पहुँचना?

कठोपनिपद मे कहा है —

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति (३–१४)

मैं भी यही शब्द दोहराना चाहता हूँ 'उठो, जागो, श्रेष्ठ पुरुषो के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो। ज्ञानी पुरुषो ने बताया है कि धर्म मार्ग पर चलना वैसा ही कठिन है जैसा तेज छुरे की धार पर चलना कठिन है।'

कानपुर
३१–१२–३६

दीवानचन्द

ॐ

विषय-सूची

ॐ

अध्याय १

वेद

१—ईश्वर वन्दना

यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः ॥

भूमि जिसका पैर है और अन्तरिक्ष उदर है, द्युलोक को जिसने अपना सिर बनाया है, उस महान ब्रह्म को हमारा प्रणाम है ।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्नि यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः ॥

सूर्य और बार बार नया होने वाला चन्द्रमा जिसका नेत्र है, अग्नि को जिसने अपना मुख बनाया है, उस परम ब्रह्म को हमारा प्रणाम है ।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुराङ्गिरसोभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानी स्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः ॥

अथर्व १०.७. (३२–३४)

वायु जिसका श्वास प्रश्वास है, अङ्गिरस (प्रकाशमान किरणावली) जिसका नेत्र है, दिशाओं को जिसने ज्ञान का साधक (श्रोत्र) बनाया है, उस परम ब्रह्म को हमारा प्रणाम है ।

यो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर् यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः ॥

अथर्व १०-८.१

जो भूत और भविष्य सब का अधिष्ठाता है, जिसका अपना स्वरूप केवल प्रकाश और आनन्द है, उस महान ब्रह्म को हमारा प्रणाम है ।

२—ईश्वर स्तुति

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

प्रकाशस्वरूप प्रभु सृष्टि के पहले वर्तमान था और वह इस उत्पन्न हुए विश्व का एकमात्र प्रसिद्ध स्वामी था। उसीने इस द्युलोक और पृथिवी को धारण किया हुआ है। उस सुखस्वरूप देव का हम त्याग द्वारा पूजन करते हैं।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

जो आत्मिक शक्ति और बल देने वाला है, सब जिसकी उपासना करते हैं, देव जिसकी आज्ञा में चलते हैं, जिसकी छाया अथवा शरण पाना अमर होना है और जिससे दूर होना ही मृत्यु है, अथवा जो मृत्यु का भी अधिष्ठाता है, उस सुखस्वरूप देव का हम त्याग द्वारा पूजन करते हैं।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक
इद्राजा जगतो बभूव ।

य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

ऋ० १०.१२१.(१-३)

जो अपने महत्त्व के कारण इस जड एव जगम जगत का निश्चय रूप से एकमात्र राजा है, जो इस विश्व के द्विपद एव चतुष्पद सभी पर शासन करता है, उस सुखस्वरूप देव का हम त्याग द्वारा पूजन करते हैं।

येन द्यौ रुग्रा पृथिवी च दृढ़ा
येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

ऋ० १०.१२१.५

जिसने उग्र द्विलोक और दृढ पृथिवी को धारण किया है, जिसने स्व (स्वर्लोक अथवा सुख) और मोक्ष को धारण किया है, जो अन्तरिक्ष में लोक लोकान्तरो को घुमाता हुआ धारण कर रहा है, उस सुखस्वरूप देव का हम त्याग द्वारा पूजन करते हैं।

३—शिव संकल्प

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मेमनः शिव संकल्पमस्तु ॥

जो दिव्य मन जाग्रत अवस्था मे दूर निकल जाता है और उसी प्रकार सोने की दशा में भी बहुत दूर चला जाता है, वह दूर जाने वाला, ज्योतियो की ज्योति अर्थात् इन्द्रियो का प्रकाशक मेरा मन शुभ सकल्पो वाला हो।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

कर्मशील, मनीषी, धीर पुरुष जिसके द्वारा परोपकार क्षेत्र में तथा जीवन-संघर्ष में बड़े बडे कार्य कर दिखाते है, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियो) के अन्दर एक अपूर्व पूज्य सत्ता है, वह मेरा मन शुभ सकल्पो वाला हो।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।

यस्मान्नऋते किञ्चन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

जो नये नये अनुभव कराता है, पिछले जाने हुए का स्मरण कराता है, सकट मे धैर्य धारण कराता है, जो समस्त प्रजाओ (इन्द्रियो) के अन्दर एक अमर ज्योति है, जिसके विना कोई कर्म नही किया जाता, वह मेरा मन शुभ सकल्पो वाला हो।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्
परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता
तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

जिस अमृत मन के द्वारा यह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान सभी जाना जाता है, जिससे सात होताओ वाला यज्ञ फैलाया जाता है, वह मेरा मन शुभ सकल्पो वाला हो।

यस्मिन्नृचः सामयजूँ षि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

जिसमें ऋचायें, साम और यजु इस प्रकार टिके हुए है जैसे रथ की नाभि मे अरे, जिसमे इन्द्रियो की सारी प्रवृत्ति पिरोई रहती है, वह मेरा मन शुभ सकल्पो वाला हो।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयते ऽभीषुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

यजु० ३४.१.६

अच्छा सारथी जिस प्रकार वेगवान घोडो को वागो से पकड कर चलाये जाता है, उसी प्रकार जो मनुष्यो को लगातार चलाता रहता है जो हृदय मे रहने वाला, वडा फुर्तीला और सर्वाधिक वेग वाला है, वह मेरा मन शुभ सकल्पो वाला हो।

४—धार्मिक जीवन

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

इस चलायमान ससार मे जो कुछ चलता हुआ है वह सब ईश्वर से आच्छादित है। इसलिये त्याग भाव से भोग करो और किसी के भी धन का लालच मत करो।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

इस ससार में कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करो। तभी तुमसे कर्म का लगाव छूट सकेगा। कर्मबन्धन से छूटने का इसके अतिरिक्त अन्य उपाय नही है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।

यजु० ४०-१-३

जो आत्मघात करने वाले पुरुष है, वे यहाँ से शरीर छोड कर उन लोको में जाते है जो प्रगाढ अन्धकार से भरे हुए है और असुरो के योग्य है।

५—संगठित रहो

समानी प्रपा सह वो ऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चो ऽग्निं सपर्यत
आरा नाभिमिवाभितः ॥

अथर्व ३.३०.६

तुम्हारी जलशाला एक सी हो, अन्न का विभाजन साथ साथ हो, एक ही जुए में मैं तुमको साथ साथ जोडता हूँ। जैसे पहिये के अरे नाभि में चारो ओर से जुडे होते है, वैसे ही तुम सव मिल कर ज्ञान स्वरूप प्रभु की पूजा करो।

संगच्छध्वं सवदध्वं संवो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

ऋ० १०.१९१.२

आपस में मिलो, सवाद करो जिससे तुम्हारे मन एक ज्ञान वाले हो; जैसा कि पहले देवता (सूर्य चन्द्रादि) एक मन हो कर अपने अपने भाग का सेवन कर रहे है अर्थात् अपना कर्तव्य करते हुए विश्व की स्थिति के कारण वने हुए है।

६—निर्भयता

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं
द्यावा पृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्ता
दुत्तरादधरादभयं नो ऽस्तु ॥

अन्तरिक्ष मे हमारे लिये अभय हो, इन दोनो द्यौ और पृथिवी में अभय हो; अभय पीछे से हो, आगे से हो; ऊपर और नीचे से हमारे लिये अभय हो।

अभयं मित्रादभयममित्रा
दभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

अथर्व० १९-१५-५-६

हम मित्रो से अभय हो, शत्रुओ से अभय हो, जाने हुए परिचितो से अभय हो और जो आगे आने वाले है, अपरिचित है, उनसे भी अभय हो। रात्रि और दिन मे हम निर्भय रहें। समस्त दिशाये हमारे मित्र रूप में हो।

७—मेधा

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधया अग्ने मेधाविनं कुरु ॥

यजु० ३२-१४

हे ज्ञान स्वरूप प्रभो! पितर और देवगण जिस धारणावती बुद्धि की उपासना करते है उससे आज मुझे मेधावी बना दो।

मेधां सायं मेधां प्रातः मेधां मध्यन्दिनं परि ।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिः वचसा वेशयामहे ॥

अथर्व० ६-१०८-५

मेधा को सायं, प्रात, मध्यदिन के समय, सूर्य की रश्मियो के साथ और वचन के साथ हम ग्रहण करते है।

८—उन्नति का मार्ग

व्रतेन दीक्षा माप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

यजु० १९-३०

व्रत से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा (योग्यता, निपुणता), दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य प्राप्त किया जाता है।

९—सार्वजनिक मित्रभाव

दृते दृँ॑ह मा मित्रस्य मा चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्यचक्षुषा समीक्षामहे ॥

यजु० ३६-१८

हे दृढ बनाने वाले ! मुझे ऐसा दृढ बना कि सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं स्वयं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता हूँ (और चाहता हूँ कि) हम सब आपस में एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें।

अध्याय २

उपनिषद

१—प्रजापति का उपदेश

प्रजापति की तीन प्रकार की सन्तान—देवो, मनुष्यो और असुरो—ने अपने पिता प्रजापति के पास जा कर ब्रह्मचर्य्य का सेवन किया। जब वे ब्रह्मचर्य्य का सेवन कर चुके, तो देवो ने प्रजापति से कहा, "हमें उपदेश दीजिये"। प्रजापति ने कहा, "द", और पूछा, "तुमने समझा ?" देवो ने कहा, "हाँ! समझ लिया है। आपने कहा है, अपने आप पर दमन करो"। प्रजापति ने कहा, "ठीक! तुमने समझ लिया है"।

तब मनुष्यो ने उससे कहा, "महाराज! हमें उपदेश दीजिये"। प्रजापति ने कहा, "द", और पूछा, "तुमने समझा ?" मनुष्यो ने उत्तर दिया, "हाँ! समझ लिया है, आपने कहा है, दान मे कमाई व्यय करो।" प्रजापति ने कहा, "ठीक! तुमने समझ लिया है"।

तब असुरो ने उससे विनय की, "महाराज हमें उपदेश दें"। प्रजापति ने कहा, "द", और पूछा, "तुमने समझा ?", असुरो ने जवाब दिया, "हाँ! समझ लिया है, आपने कहा है, "दयावान बनो"। प्रजापति ने कहा, "ठीक! तुमने समझ लिया है"।

जब बिजली कडकती है, तब उसकी कडक से आवाज आती है—"द, द, द"। यह प्रजापति का उपदेश होता है, दम्यता, (अपने मन को वश में रक्खो), दत्ता (दान दो), दयाध्व (निर्बलो पर दया करो)। अतएव इन तीनो—दमन, दान और दया—का प्रचार करना चाहिये।

बृहदारण्यक ५-२

[मनुष्यो मे कुछ ऐसे होते हैं, जिनका मुख्य चिह्न, उनका ज्ञान होता है। ये लोग समाज के मस्तिष्क हैं। इनका काम दूसरो को ज्ञान देना है। उनके लिये यह बात परम-आवश्यक है कि उनका जीवन पवित्र हो। जो गुरु अथवा उपदेशक अपने मन और इन्द्रियो को वश में नही रख सकता, वह दूसरे के जीवन पर क्या प्रभाव डाल सकता है?

मनुष्यो में असुर वे है, जिनका विशेप चिह्न उनका 'वल' है। उनके लिये सवसे आवश्यक वात यह है कि वे अपने वल का उपयोग निर्वलो की रक्षा के लिये करे। जिस तरह अध्यापक और उपदेशक का सवसे वडा दोप यह है कि 'वह विपयो का दास हो'; इसी प्रकार बलवान का सवसे वडा दोप यह है कि वह निर्वलो पर अत्याचार करे। इन दोनो श्रेणियो को छोड कर शेप लोगो को सावारण कोटि का मनुष्य कहते है। इनसे यही आशा करनी चाहिये कि वे जो कुछ अपने परिश्रम से कमाते है, उसका एक भाग वे समाज-सेवा और परोपकार के लिये व्यय करें। प्रजापति ने अपनी तीन प्रकार की सन्तान को दमन, दान और दया की शिक्षा इन शब्दों का पहला अक्षर 'द' कह कर दे दी।]

२—जीवन क्या है?

उक्थम्—(वढना)—जीवन वढने का नाम है। जीवन के कारण ही सव कुछ वढता है। जो व्यक्ति ऐसा जानता है, उसकी सन्तान वढने वाली और वलवान होती है। जो व्यक्ति ऐसा जानता है, वह उक्थ (वढने) के स्वभाव और उसके स्थान को प्राप्त कर लेता है (उक्थ रूप वन जाता है)।

यजुः—(सङ्गठन)—जीवन सगठन का नाम है। जहाँ जीवन है, वहाँ सङ्गठन है। जो ऐसा जानता है, उसकी वडाई के लिये सारे प्राणी उससे मिल जाते है। जो ऐसा जानता है वह यजु (सङ्गठन) के स्वभाव और उसके स्थान को प्राप्त कर लेता है—(सङ्गठन रूप ही वन जाता है)।

साम—(अपने समान वना लेना, अपने आप मे लय कर लेना) जीवन अपने आप मे विलीन कर लेने का नाम है। जहाँ जीवन है, वहाँ भिन्न भिन्न पदार्थ एक ही वन जाते है। जो व्यक्ति ऐसा जानता है, उसकी बडाई के लिये सारे प्राणी एक रूप ही हो जाते हैं। जो व्यक्ति ऐसा जानता है, वह साम के स्वभाव और स्थान को प्राप्त कर लेता है—(सामरूप ही हो जाता है)।

क्षत्र—(अपनी रक्षा करना)—जीवन अपनी रक्षा करने का नाम है। जहाँ जीवन है वहाँ वाहरी आक्रमणो से अपनी रक्षा की ही जाती है। जो ऐसा जानता है वह अपनी रक्षा आप करता है। कोई दूसरा उसके लिये नही कर सकता। वह क्षत्र के स्वभाव और स्थान को प्राप्त कर लेता है (क्षत्र-रूप ही वन जाता है)।

वृहदारण्यक ५-१३

[जीवन के चार चिह्नो का यहाँ वर्णन किया गया है। हर एक जीवित पदार्थ बढता है। वह सम्पूर्णत' एक पदार्थ की भाँति काम करता है। वह जीवित रहने के लिए अपने आस पास से भोजन लेता और उसे अपना अङ्ग वना लेता है। वह अपनी रक्षा के लिये जितना यत्न कर सकता है, करता है।

इसे समझने के लिये मनुष्य शरीर को देखें। मनुष्य जीवन का आरम्भ एक घटक (सैल cell) से होता है। इसका एक भाग पिता के शरीर से आता है, दूसरा माता के शरीर से। यह घटक वहुत छोटा होता है। यह एक से दो होता है, दो से चार और चार से आठ। इसी प्रकार ये घटक बढते जाते है। माता के गर्भ से जिस समय वच्चा वाहर आता है, उस समय उसका वजन साढे चार सेर के लगभग होता है। इस काल में उस एक घटक ने अपने आप को अनेक घटको मे परिर्वात्तत कर लिया है। वीस वर्ष का युवक होने तक वह तीन साढे तीन सेर प्रति वर्ष के हिसाव से वढता

है। यह सब भी घटको के विभाजन से होता है। युवक पुरुष के शरीर में ६० लाख करोड घटक होते है। अगर उन्हें आर्य्यावर्त्त के छोटे बड़े पुरुषो और स्त्रियो में बाँटें, तो प्रत्येक के हिस्से मे डेढ़ लाख घटक आयेंगे। प्रारम्भ के एक घटक ने ही बढते बढ़ते यह रूप धारण कर लिया है।

शरीर के विभिन्न अङ्ग अपना अपना काम करते है। परन्तु इन सब कार्य्यो का एक मात्र लक्ष्य शरीर का जीवन स्थिर रखना और बढाना होता है। और यथार्थ तो यह है कि मेरी आँखें नही देखती, मैं आँखो मे देखता हूँ; मेरा आमाशय भोजन नहीं पचाता; मैं भोजन पचाता हूँ। मनुष्य का शरीर सङ्गठन का एक बहुत अच्छा उदाहरण है।

जीवन के सम्बन्ध में यह बात बड़ी आश्चर्य्यजनक है कि जीवित पदार्थ दूसरी वस्तुओ को अपने में लय कर लेता है और अपना अङ्ग बना लेता है। मै फल और चावल खाता हूँ; कुछ घटो के उपरान्त न चावलो का पता मेरे शरीर मे लगता है न फल का। वे मेरे मास, मेरे रुधिर और मेरी हड्डियो के रूप में बदल जाते है। बच्चा पीता दूध है परन्तु उससे अपना मांस और रुधिर बनाता है। नीम का वृक्ष खेत की खाद और मिट्टी को नीम बना लेता है और आम का वृक्ष आम बना लेता है।

जहाँ जीवन है, वहाँ आत्मरक्षा भी उपस्थित है। बाहर की गर्मी ६० अश हो या ११५ अंश, परन्तु मेरा शरीर अपना तापमान [९८.४ अश स्थिर बनाये रखता है। छोटी से छोटी जीवित वस्तु अपने जीवन को स्थिर रखने के लिये यत्न करती है।

जीवन के ये चिह्न जातियो की अवस्था में भी देखे जाते है। इनके आधार पर हम बलवान और निर्बल जातियो में भेद कर सकते है।]

३—अन्तिम उपदेश

याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थी, मैत्रेयी और कात्यायनी। मैत्रेयी को ब्रह्म सम्बन्धी विचार में रुचि थी; कात्यायनी घर के काम काज मे चतुर

थी। याज्ञवल्क्य की इच्छा हुई कि वे गृहस्थ को छोड़ कर अगले आश्रम मे प्रवेश करें।

याज्ञवल्क्य ने कहा, "मैत्रेयी! देखो; मैं चाहता हूँ कि वर्त्तमान आश्रम को छोड़ कर सन्यास ले लूं। अतएव मै चाहता हूँ कि अपनी सम्पत्ति तुम दोनो मे बांट दूं।"

मैत्रेयी ने कहा, "यदि सारा संसार समस्त सम्पत्ति समेत मेरा हो, तो क्या मैं अमर हो जाऊंगी?"

याज्ञवल्क्य ने कहा, "नही, तुम्हारी अवस्था एक धनवान पुरुष की अवस्था हो जावेगी, परन्तु धन से कोई अमर तो नहीं हो सकता"।

मैत्रेयी ने कहा, "यदि मै धन से अमर नहीं हो सकती, तो धन मेरे किस काम का? मुझे तो ऐसा ज्ञान दीजिये, जो मुझे अमर बना दे"।

याज्ञवल्क्य ने कहा, "तुम मुझे पहले से ही प्रिय थीं; इस प्रश्न से तुमने मेरे प्रेम को और भी बढा दिया है। आओ; बैठो; मैं तुम्हे अमर होने के साधनो के सम्बन्ध में बताऊँगा। उन्हे समझने का यत्न करो।"

"पति की कामना के लिये पत्नी पति को प्यार नही करती, आत्मा की कामना के लिये उसे पति प्यारा होता है। पत्नी की कामना के लिये पति को पत्नी प्यारी नहीं होती, किन्तु आत्मा की कामना के लिये उसे पत्नी प्यारी होती है। पुत्रो की कामना के लिये पुत्र प्यारे नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये पुत्र प्यारे होते है। धन धन के अर्थ प्यारा नही होता, किन्तु आत्मा की कामना के लिये यह प्यारा होता है। ब्राह्मणत्त्व (ब्राह्मणपन) ब्राह्मणपन के लिये प्यारा नही, किन्तु आत्मा की कामना के लिये प्यारा होता है। क्षात्रत्त्व (शासन) क्षात्रत्त्व के लिये प्यारा नही होता, किन्तु आत्मा की कामना के लिये प्यारा होता है। परलोक (वर्त्त-मान जीवन के उपरान्त प्राप्त होने वाली अच्छी अवस्थाये) लोको की कामना से प्यारे नही होते, किन्तु आत्मा की कामना से लोक प्यारे होते

है। देवत्व की कामना से देव प्यारे नही होते, किन्तु आत्मा की कामना से देव प्यारे होते है। समस्त प्राणियो से प्रेम उनकी कामना से नही किया जाता किन्तु आत्मा की कामना से किया जाता है। अखिल ब्रह्माण्ड ब्रह्माण्ड की कामना से प्यारा नही होता है, किन्तु आत्मा की कामना से प्यारा होता है।

ऐसे आत्मा को ही देखना, सुनना तथा मनन करना चाहिए। देखने, सुनने, मनन करने से जब इस आत्मा का ज्ञान होता है, तो सब कुछ समझ में आ जाता है।"

बृहदारण्यक ४-५ (१-६)

"जहाँ द्वैत का भाव होता है, वहाँ एक दूसरे को देखता है; वहाँ एक दूसरे को सूँघता है; वहाँ स्वाद लेने वाला दूसरे पदार्थ का स्वाद लेता है; वहाँ बोलने वाला दूसरे से बातचीत करता है; वहाँ सुनने वाला दूसरी वस्तु का शब्द सुनता है; वहाँ मनन करने वाला दूसरे पदार्थ का मनन करता है; वहाँ छूने वाला दूसरे पदार्थ को छूता है; वहाँ (उनमे किसी प्रकार से) जानने वाला किसी दूसरे पदार्थ को जानता है। परन्तु जिस पुरुप के लिये सब कुछ उसका आत्मा ही बन गया है, वह कैसे किसी वस्तु को देख सकता है? सूंघ सकता है? स्वाद ले सकता है? कुछ बोल सकता है? कुछ सुन सकता है? किसी वस्तु का मनन कर सकता है? किसी वस्तु को छू सकता है? कुछ जान सकता है?"

"मनुष्य जिस आत्मा से सब कुछ जानता है, उस आत्मा को किस से जाने। यह आत्मा 'न यह है, न वह'। (कोई विशेष पदार्थ जिसे देख छू सकते हो, नहीं है।) उसे पकडा नही जा सकता; उसे छिन्न भिन्न नही किया जा सकता; उसे छुआ नहीं जा सकता है, उसका कोई अंग नही; उसे पीड़ा नही हो सकती, उसका नाश नही होता।"

एक और अर्थ मे इस उपदेश को लिया जा सकता है। सम्भव है कि 'आत्मा' शब्द परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ हो। इस दशा में इस उपदेश का अभिप्राय यह है कि ससार मे जहाँ कही सौन्दर्य्य है, वह परमात्मा का प्रकाश है। जब कोई वस्तु मुझे अपनी ओर खीचती है तो वास्तव में परमात्मा उस वस्तु के द्वारा मुझे अपनी ओर खीचता है। जितना भी क्लेश हम अनुभव करते है, वह परमात्मा से बिछुडने के कारण होता है। हमारा आत्मा इस वियोग का अन्त करना चाहता है। सुन्दर वस्तुओ का प्रेम इसका एक साधन है। जब हम किसी पदार्थ से प्रेम करते है, तो उस समय के लिये अपने आपको और अपनी विभिन्नता को भूल जाते है। अपने प्रियतम में अपने आपको तन्मय कर देते है। यदि समस्त पदार्थों को परमात्मा का प्रकाश समझ लिया जावे, तो समस्त प्रेम वास्तव मे आत्मा का प्रेम ही हो जाता है।

याज्ञवल्क्य के उपदेश के दूसरे भाग मे इसी प्रकार के परिणाम की ओर सङ्केत किया गया है। दु खो का कारण यह है कि एक मनुष्य अपने आपको दूसरे पदार्थों से पृथक समझता है। उनको देखने, सुनने, छूने, जानने का यत्न करता है। जब द्वैतभाव मिट जाता है, तो इस प्रकार के ज्ञान के लिये कोई स्थान नही रहता, और जहाँ तक आत्मज्ञान का सम्बन्ध है, यह तो इन्द्रियो और मन का विषय नही। आत्मा जानने वाला है। इसे ज्ञान का विषय नही बनाया जा सकता। आँख सब वस्तुओ को देखती है, परन्तु अपने आपको नही देख सकती, जिह्वा सब वस्तुओ का स्वाद लेती है, परन्तु अपना स्वाद नही ले सकती, इसी प्रकार आत्मा जिन साधनो से दूसरे पदार्थों को जानता है, उन साधनो से अपने आपको नही जान सकता। यह कहा जा सकता है—कि सासारिक पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियो से होता है, दूसरे आत्माओ का ज्ञान अनुमान से होता है, अपने आत्मा का ज्ञान स्वय सिद्ध (Intuitive) है।]

४—ब्रह्म-ज्ञान

ब्रह्म मन से ही जानने के योग्य है। उसमे अनेकता बिल्कुल नही। जो मनुष्य उसमे अनेकता देखता है, वह जन्म मरण के चक्कर मे फँसा रहता है।

एक प्रकार से इस 'ब्रह्म' को देखना चाहिये। जिसके अस्तित्व का कोई प्रमाण नही हो सकता[1], जिसका कोई मुख्य स्थान नही, जो आकाश से अधिक सूक्ष्म है, जो अजन्मा है, महान है, एक रस रहता है, उस ब्रह्म को जान कर बुद्धिमान ब्राह्मण अपनी धारणा को निश्चित करे। बहुत नामो का ध्यान न करे, क्योकि बहुत नाम बुद्धि को विकृत ही करते है।

(बृहदारण्यक ५-१९-२१)

५—सच्चा ब्राह्मण

ब्रह्म की अनादि महत्ता कर्मों से घटती बढती नही। मनुष्य को चाहिये कि उसकी महत्ता को जाने। इसे जान लेने पर बुरे कर्म उसे मलिन

---

[1] किसी प्रतिज्ञा के सिद्ध करने का प्रयोजन यह होता है कि किसी दूसरी प्रतिज्ञा के साथ—जिसकी सचाई को हम मानते है—उस प्रतिज्ञा की समानता प्रकट की जाय। यदि उस दूसरी प्रतिज्ञा को प्रमाणित करना हो, तो उसकी समानता (Agreement) की तीसरी प्रतिज्ञा से प्रकट करना चाहिये जिसे हम ठीक मानते है। यही क्रम चलता रहता है और अन्त में हम किसी ऐसी प्रतिज्ञा पर पहुँचते है जो प्रमाणित नहीं हो सकती, क्योंकि कोई बात उससे अधिक स्पष्ट नही है। उपनिषत् का अभिप्राय यहां यह प्रतीत होता है कि ब्रह्म सब का मूल है। प्रत्येक वस्तु का आधार उसी पर है। इसे किसी दूसरे पदार्थ से सिद्ध नहीं कर सकते।

नही करते। इसलिए मनुष्य—जिसने यह ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो शान्त है, जिसने इन्द्रियो को जीत लिया है, जो वासनाओं से स्वतन्त्र है, जो सहनशील और सयमी हो कर आत्मा में ही आत्मा को देखता है, और सर्वात्मा को देखता है, पाप उस पर विजय नही पाता, वरन वह पाप पर विजय पाता है, पाप उसे नहीं जलाता, वह पाप को भस्म कर देता है। वह पाप और सशय से मुक्त हो जाता है, वह पवित्र है, वही सच्चा ब्राह्मण है।

(वृहदारण्यक ४-२३)

६—आत्मा ही ज्ञान का स्वरूप और प्यार करने योग्य है

आत्मा शरीर मे प्रविष्ट हुआ है। जैसे छुरे के कोप मे छुरा होता है, अथवा जैसे गर्म पदार्थ में अग्नि होती है, वैसे ही आत्मा सारे शरीर में नख से शिखा तक है। उसे लोग देखते नही। वह विभिन्न रगो मे अधूरा प्रकट होता है। साँस लेता हुआ वह प्राण कहलाता है, बोलता हुआ वाणी कहलाता है, देखता हुआ आँख, सुनता हुआ कान और मनन करता हुआ मन कहलाता है। यह आत्मा के कर्मों के नाम है। जो मनुष्य इनमे से एक शक्ति की—इन सबके मूल से भिन्न—उपासना करता है वह आत्मा को नहीं जानता, क्योकि किसी एक शक्ति के रूप मे तो वह आत्मा असम्पूर्ण (अधूरा) है। इस विशेष शक्ति से तो किसी विशेष कर्म का ही प्रकाश होता है। मनुष्य को आत्मा की उपासना करनी चाहिये; यह समझ कर कि सारा भेद उसमे मिट जाता है। 'इसी आत्मा से सब पदार्थों का ज्ञान होता है, जैसे पैरो के चिह्नो से चलने वाले के सम्बन्ध में ज्ञान होता है।

यह आत्मा पुत्र से अधिक प्यारा है, धन सम्पत्ति से अधिक प्यारा है; शेष सब वस्तुओ से अधिक प्यारा है; क्योकि यह सबसे अधिक निकट

है। यदि कोई कहे कि वह आत्मा की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु से अधिक प्रेम करता है, तो उससे कहो कि यह दूसरे पदार्थ तो विनाशी हैं (उनका सम्बन्ध टूट जायगा, कब तक उनसे प्रीति कर सकोगे ?), आत्मा ही ऐश्वर्य्यवान है, उससे ही प्रेम करने वाला ऐश्वर्य्यवान होता है। जो पुरुष आत्मा से ही प्रेम रखता है, उसका प्रेम नाशवान पदार्थों में नहीं होता।

बृहदारण्यक १ ४ (७-८)

७—मनुष्य जीवन और उसकी चेष्टायें

पहले आत्मा अकेला था। उसने इच्छा की, 'मेरे लिये पत्नी हो'। फिर इच्छा की, 'इससे सन्तान उत्पन्न हो'। फिर इच्छा की कि 'धन प्राप्त हो जिससे कर्म कर सकूँ'। "मनुष्य की कामनायें इसी सीमा तक पहुँचती हैं। यदि वह इनसे अधिक की कामना भी करे, तो भी कुछ अधिक नहीं पाता। अब भी मनुष्यों की इच्छायें यही है। मुझे पत्नी मिले, मेरे सन्तान हो, मुझे धन मिले, मैं कुछ काम कर सकूँ"। जब तक यह वस्तुएं या इनमें से कोई उसे प्राप्त नहीं होतीं, मनुष्य अपने को अपूर्ण समझता है। यही आत्मा की पूर्णता है।

बृहदारण्यक १:४ (१७)

[साधारण मनुष्य का जीवन जिस परिधि में घूमता रहता है, उसका चित्र यहाँ साधारण शब्दों में खींचा गया है। 'मनुष्य समाज' जातियों का समूह है। हर एक जाति छोटे समूहों से बनती है। सबसे छोटा समूह एक परिवार है। परिवार का आधार एक पुरुष और स्त्री के एकत्र होने पर है। सन्तान की उत्पत्ति जीवन की प्रकृत चेष्टा है। अपने आपको स्थिर रखने के लिये जीवन प्रत्येक पुरुष और स्त्री को साधन रूप में बरतता है। जीवन स्थिर रखने के लिये हर एक को धन सम्पत्ति की भी आवश्यकता पड़ती है। यह तीनों—पत्नी, सन्तान और सम्पत्ति—

मिल भी जाय, तो भी ग्रात्मा सन्तुष्ट नही होती। उसकी ग्रान्तरिक ग्राव-श्यकता यह होती है कि वह कुछ करे, सामाजिक जीवन की सफलता और उन्नति के लिये अपने यत्न से कुछ योग दे। यह कामना जीवन पर्यन्त बनी रहती है। मनुष्य को काम करते हुए ही जीने की इच्छा करनी चाहिये।]

८—तीन लोक और सम्पत्ति

तीन ही लोक है —मनुष्य-लोक, पितृ-लोक और देव-लोक। मनुष्य-लोक सन्तान से जीता जाता है और किसी तरह नही, पितृ लोक शुभ कर्म करने से जीता जाता है, देव-लोक विद्या से जीता जाता है। इन लोको मे देव लोक दूसरे लोको से उत्तम है, इसलिये लोग विद्या की प्रशसा करते है।

अब सम्पत्ति (मरते समय जो कुछ पिता पुत्र को सौंपता है) का वर्णन करते है।

जब कोई पुरुष समझता है कि उसकी मृत्यु का समय आ पहुँचा तो वह अपने पुत्र से कहता है, "तू ब्रह्म (वेद ज्ञान) है, तू यज्ञ (परोपकार) है, तू लोक (सासारिक ऐश्वर्य्य) है"। पुत्र उत्तर देता है "मै ब्रह्म हूँ, मै यज्ञ हूँ, मै लोक हूँ"।

जो कुछ भी सीखा गया है, उस सबको 'ब्रह्म' कहा गया है, जो कुछ परोपकार का काम या कर्मकाण्ड किया गया है, उसे 'यज्ञ' कहा गया है, जो कुछ ससार में है, उस सबको लोक कहा गया है।

यह सब कुछ इतना महान हे। पिता विचार करता है, "इस सब कुछ की यह अवस्था है, मेरा पुत्र मुझे इस ससार से जाने में सहायता दे। इसीलिये कहते है कि 'उचित शिक्षा पाया हुआ पुत्र पिता के लिये उत्तम अवस्था प्राप्त कराने का साधन होता है'। इसीलिये उसे शिक्षा दी जाती है।

जव ऐसा ज्ञान रखने वाला पिता ससार से जाता है, तव अपनी शक्तियो के साथ पुत्र के शरीर मे प्रवेश करता है। जो कुछ वह आप नही कर पाया, उसकी कमी उसका पुत्र पूरी कर देता है। इसीलिये उसे पुत्र (तारने वाला) कहते है। पुत्र से ही पिता इस लोक मे स्थिर रहता है। अमृतमय प्राण अर्थात् दैवी शक्तियाँ भी पुत्र मे प्रवेश करती है।

वृहदारण्यक १.५ (१६-१७)

[जीवन की तीन अवस्थायें है। उनका नाम मनुष्य लोक, पितृलोक और देवलोक कहा गया है। जिस मनुष्य के पुत्र पैदा हो जाता है, वह शारीरिक दृष्टिकोण से मरने पर भी उस पुत्र के शरीर में जीवित रहता है। जव तक यह क्रम चलना रहेगा तव तक वह जीवित रहेगा। भले कर्मों से मनुष्य को ऊँची पदवी मिलती है। वह वडो में गिना जाता है। सवसे ऊँची अवस्था वह है जो ज्ञान से उत्पन्न होती है। उसे देवलोक कहा गया है।

इस उपदेश के दूसरे भाग मे अति उत्तम शिक्षा दी गई है। साधारण मनुष्य अपने जीवन का वहुत सा भाग अपने परिवार के लिये व्यय करता है। वास्तव में हमारी सवसे मूल्यवान सम्पत्ति हमारी सन्तान है। उसके सम्वन्ध मे हम क्या करते है? उसके लिये हम वहुत कुछ सञ्चय करते है। परन्तु स्वय सन्तान का क्या वनाते है। प्रत्येक पिता की वडी आकाक्षा यह होनी चाहिये कि उसका पुत्र सासारिक ऐश्वर्य्य, परोपकार और विद्या मे उसका स्थान ले सके। यही तीन वस्तुये शेष सर्वस्व से अधिक मूल्यवान है। केवल यही नही कि पुत्र पिता का स्थान ले सके, वरन् जो कुछ कमी पिता के जीवन मे इन तीनो वातो के सम्वन्ध मे रह गई है उसे पूरी कर दे। इस प्रकार पुत्र का काम केवल यही नही कि पिता के काम और नाम को प्रचलित रक्खे, वरन् यह भी कि उसे आगे वढाये। जिस पिता को ऐसा पुत्र मिल जावे, वह भाग्य-

वान है। जिस पिता को ऐसा पुत्र मिल जावे वह मरने पर भी जीवित रहता है। जिसका काम चलता रहता है और फलता फूलता है, वह अमर है।]

९—सनत्कुमार और नारद का सम्वाद

सनत्कुमार ने कहा, "प्राण (शक्ति) आशा से बढ कर है। जैसे रथ की नाभि के साथ अरे जकडे होते है, वैसे ही प्राण के साथ सब कुछ जकडा हुआ है। प्राण प्राण के साथ जाता है। प्राण जीवनदाता है। जीवन के लिये ही प्राण यह देता है। प्राण ही पिता है, माता है, भाई है, बहिन है, आचार्य्य है, ब्राह्मण है।

जब कोई पुरुष पिता, माता, भाई, बहिन, गुरु या ब्राह्मण से कठोर शब्द बोलता है, तो लोग उससे कहते है, 'तुम्हारे लिये डूब मरने का स्थान है, तुम अपने पिता, माता, भाई, बहिन, गुरु या ब्राह्मण की हत्या करते हो।' परन्तु जब उनके शरीर से प्राण निकल जाता है तो वही मनुष्य उन्हें अग्नि मे जला देता है, बाँसो से उनके शरीर को ठोकरे लगाता है, और कोई उसे बुरा नही कहता, कोई उसे घातक का नाम नहीं देता, वास्तव मे प्राण ही यह सब कुछ है। जो मनुष्य इस रहस्य को समझता है, इस पर विचार करता है, इसे भली भाँति जानता है, वही अति वादी (यथार्थ वक्ता) है।"

परन्तु ऐसा कथन वही कर सकता है जो सत्य के साथ बोलता है।

नारद—"भगवन! मैं सत्य को जानना चाहता हूँ?"

सनत्कुमार—"जिस मनुष्य ने विज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह सत्य कह सकता है। जो पुरुष जानता ही नही वह सत्य नही कह सकता। जानता हुआ मनुष्य ही सत्य कहता है। इसलिये विज्ञान के स्वरूप को समझना चाहिये।"

नारद—"मैं विज्ञान के स्वरूप को समझना चाहता हूँ।"

सनत्कुमार—"जब कोई पुरुष सत्य का मनन (उसके सम्बन्ध में दार्शनिक रूप से विचार) करता है, तभी वह उसे जान सकता है। इसलिये मनन करने के स्वरूप को जानना चाहिये।"

नारद—"मैं उसके स्वरूप को जानना चाहता हूँ।"

सनत्०—"श्रद्धा हो तो मनुष्य मनन कर सकता है। श्रद्धा के बिना मनन नहीं हो सकता। श्रद्धावान पुरुष ही मनन करता है। इसलिये श्रद्धा के स्वरूप को समझना चाहिये।"

नारद—"मैं श्रद्धा के स्वरूप को समझना चाहता हूँ।"

सनत्०—"जब मनुष्य सत्य में स्थिर निश्चय करता है, तब उसमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसके बिना श्रद्धा नहीं हो सकती। इस निष्ठा-वाला ही श्रद्धावान होता है। इस निष्ठा को समझना चाहिये।"

नारद—"मैं इस निष्ठा को जानना चाहता हूँ।"

सनत्०—"कर्तव्य पालन करने से निष्ठा प्राप्त होती है। कर्तव्य पालन के बिना यह मिल नहीं सकती। कर्तव्य पालन करने से मनुष्य निष्ठा प्राप्त करता है। कर्तव्य के सम्बन्ध में जानना चाहिये।"

नारद—"मैं कर्तव्य के सम्बन्ध में जानना चाहता हूँ।"

सनत्०—"मनुष्य जो कुछ करता है, सुख या कल्याण के लिये करता है। सुख या कल्याण की आशा न हो तो कुछ नहीं करता। सुख की इच्छा से ही करता है। सुख या कल्याण के स्वरूप को जानना चाहिये।"

नारद—"मैं सुख या कल्याण के स्वरूप को जानना चाहता हूँ।"

सनत्०—"जो भूमा (सम्पूर्णता) है वही वास्तव में सुख है। अल्प (अंश, टुकड़े) में सुख नहीं। भूमा में ही सुख है। भूमा को समझना चाहिये।"

नारद—"मैं भूमा को समझना चाहता हूँ।"

सनत्०—"जिस अवस्था में आत्मा अपने से भिन्न किसी दूसरी वस्तु

को देखता नही, किसी दूसरे के शब्द को सुनता नही, किसी अन्य पदार्थ को जानता नही, वह अवस्था भूमा है। जिस अवस्था मे आत्मा अपने से पृथक दूसरी वस्तुओ को देखता है, दूसरे के शब्दो को सुनता है, दूसरी वस्तुओ को जानता है, वह अल्प (सीमित) है। जो भूमा है, वह अमर है; जो अल्प है, वह नाशवान है।"

नारद०—"वह भूमा किस वस्तु के आधार पर स्थित है ?"

सनत्०—"वह भूमा अपनी ही महत्ता पर स्थिर है। किसी दूसरे पदार्थ के महत्त्व पर उसकी महत्ता निर्भर नही। अथवा यो कहो कि वह किसी बडाई के आधार पर स्थिर नही। उसके सम्बन्ध में आधार का प्रश्न नही उठता। लोग गायो, हाथियो, घोडो, दासो, धन, स्त्रियो, जमीन और मकान को वडाई की सामग्री समझते है। मेरा विचार यह नही। यह सब पदार्थ तो दूसरो पर निर्भर है।"

छान्दोग्य ७ (१५-२४)

[इस सवाद के अन्तिम भाग में वताया गया है कि जव मनुष्य अपने आपको ब्रह्माण्ड के अन्य भागो से पृथक कर लेता है, तो वह अपने लिये दुख की सामग्री इकट्ठी करता है। सच्चा सुख या कल्याण इसमें है कि वह अपने आपको ब्रह्माण्ड मे लय कर दे। द्वैत का भाव विलकुल नष्ट कर दे। यह अनुभव करे कि सारे पदार्थो मे एक ब्रह्म व्याप्त है, और सारे पदार्थ उस एक ब्रह्म मे है। इस अनुभव के पश्चात उसे कोई दूसरा अपने से अलग प्रतीत नही होता। पागल आदमी कई वार अपने आपको मुक्के मारता है और समझता है किसी दूसरे को मार रहा है, परन्तु कोई समझदार पुरुष तो ऐसा नही करता। इस प्रकार जिस मनुष्य ने दूसरो के सम्वन्ध मे द्वैत भाव का ही परित्याग कर दिया है, वह किसी को दुख क्यो देगा ?

जो लोग कर्त्तव्य का आधार धर्म को नही मानते, वरन् उसे आदर्श

सामाजिक व्यवहार ही समझते हैं, वह भी कहते हैं कि मनुष्य के लिए जीवन-मुक्त होने का साधन यही है —वह अपने आपको पूर्णतया समष्टि जीवन में मग्न कर दे। इस दशा में उसे अपने व्यक्ति गत जीवन के सम्बन्ध में कोई चिन्ता ही नहीं रहेगी। यही अमर होना है। जब तक वह अपने आपको पृथक रख कर अपना जीवन बिताता है, वह न पूर्ण हो सकता है, न वास्तव में सुखी हो सकता है।

पहाड की चोटी से पानी चलता है। चट्टानो में सर मारता, गढो में गिरता, रेत मिट्टी मे लिपटता वह चलता ही जाता है। उसे शान्ति नहीं मिलती—जब तक वह समुद्र मे नहीं पहुँच जाता। समुद्र में ही वह पहले भी था। उससे अलग हुआ। जितनी देर अलग रहा, व्याकुल रहा। जब फिर समुद्र मे मिल गया, व्याकुलता दूर हो गई। यही दशा मनुष्य की है। जब वह अपने आपको समाज का अङ्ग बना लेता है, या अपने आपको परमात्मा की भक्ति में मग्न कर देता है, तब वह 'भूमा' बन जाता है, और सच्चे सुख को प्राप्त करता है।]

१०—मुख्य प्राण या जीवन शक्ति

प्रजापति की सन्तान देवो और असुरो में झगडा हो पडा। देवो ने 'उद्गीथ'[१] को अपने साथ मिलाया, यह सोचकर कि उसकी सहायता से वह असुरो को जीत लेंगे।

तब उन्होंने गन्ध (सूंघने की वायु) के रूप में 'उद्गीथ' की उपासना की। असुरों ने उस 'गन्ध' को पाप से बींध दिया। इसलिये मनुष्य अच्छी वस्तुएँ सूंघता है और बुरी भी, क्योंकि गन्ध पाप से बिंधी हुई है।

---

[१] उद्गीथ—सामवेद के विशेष मन्त्र जो एक यज्ञ में पढे जाते है, या 'ओ३म्'।

इसके पीछे देवो ने वाणी के रूप में 'उद्गीथ' की उपासना की। असुरो ने 'वाणी' को पाप से वीध दिया। इसलिये मनुष्य सत्य वोलता है और झूठ भी, क्योकि 'वाणी' पाप से विधी हुई है।

तव देवो ने 'आँख' के रूप में 'उद्गीथ' की उपासना की। असुरो ने आँख को पाप से वीध दिया। इसलिये मनुष्य देखने योग्य वस्तुये भी देखता है और न देखने योग्य वस्तुये भी, क्योकि 'आँख' पाप से बिधी हुई है।

तव देवो ने 'कान' के रूप मे 'उद्गीथ' की उपासना की। 'कान' को असुरो ने पाप से वीध दिया। इसलिये मनुष्य भली वाते भी सुनता है और बुरी भी, क्योकि 'कान' पाप से विधा हुआ है।

तव देवो ने 'मन' के रूप मे 'उद्गीथ' की उपासना की। असुरो ने मन को पाप से वीध दिया। इसलिये मनुष्य भले चिन्तन भी करता है और बुरे चिन्तन भी; क्योकि 'मन' पाप से विधा हुआ है।

तव देवो ने 'मुख्यप्राण' (जीवन शक्ति) को 'उद्गीथ' समझ कर उसकी उपासना की। जव असुरो ने उस प्राण पर भी आक्रमण किया, तो वे आप टुकडे टुकडे हो गये, जैसे मिट्टी का ढेला कडे पत्थर पर लगने से चूर-चूर हो जाता है।

उस प्राण से मनुष्य सुगन्ध दुर्गन्ध मे भेद नही करता, क्योकि यह प्राण पाप से मुक्त है। जो कुछ मनुष्य इस प्राण की सहायता से खाता पीता है वह दूसरी शक्तियो को भी सहारा देता है। जब यह प्राण नही रहता तो मनुष्य का जीवन समाप्त हो जाता है और उसका मुँह खुल जाता है (मृत्यु के समय मुँह वन्द करने की भी शक्ति नही रहती)।

(छान्दोग्य १ : २)

[वृहदारण्यकोपनिषद मे कहा गया है कि प्राण अन्य सव शक्तियो से वडा और सवसे श्रेष्ठ (उत्तम) है। हम आँख और कान से देखते और

सुनते है, परन्तु जीवन के लिये देखना और सुनना आवश्यक नही। बहुत सी जीवित वस्तुये है जो न देखती है न सुनती है। हम वाणी की सहायता से दूसरो पर अपने विचार प्रकट करते है—जीवन के लिये यह भी आवश्यक नही। साँस लेने के लिये हमारे शरीर मे एक प्रबन्ध (System) है जिसका केन्द्र 'फेफडा' है। यह भी वैसे आवश्यक नही। मनुष्यो मे मानसिक शक्ति मुख्य शक्ति है। यह भी जीवन के लिये आवश्यक नही। जीवन शक्ति इन सबसे पहले उपस्थित थी। वह सबसे अवस्था मे बडी है। इन दूसरी शक्तियो का विकास पीछे हुआ। जीवन शक्ति अन्य शक्तियो से उत्तम भी है। शेष सब शक्तियो पर पाप का प्रभाव हो सकता है, परन्तु मुख्य प्राण पर पाप प्रभाव नही जमा सकता। मनुष्य आँख, कान, मन और वाणी से अच्छे बुरे दोनो प्रकार के काम करता है। सूरदास ने जब देखा कि उनकी आँखे उन्हे पाप मार्ग पर ले जाती है, तो उन्होने आँखो को फोड दिया। उनकी दृष्टि मे ऐसी आँखे रखने से अन्धा होना अच्छा था। इसी प्रकार दूसरी शक्तियो का भी दुरुपयोग होता है, तो वे हमे पाप के गढे मे गिरा देती है। उपनिषद् की इस कथा मे यह बताया गया है कि विशुद्ध जीवन शक्ति पर पाप का प्रभाव नही पडता। वह अपने आप मे निर्दोष है और निर्दोष रहती है। वे दूसरी शक्तियाँ है जो मनुष्य को कीचड मे खीच ले जाती है।]

११—धर्म के स्कन्ध

धर्म के तीन भाग है —

यज्ञ, वेदपाठ और दान यह पहला भाग है।[1]

---

[1]आर्य्य सभ्यता के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विज है। इन सब के कुछ कर्म भिन्न भिन्न है और कुछ सब के सम्मिलित है। वेद

तप दूसरा भाग है।

ब्रह्मचारी आचार्य्य कुल मे रहता हुआ अत्यन्त क्लेश सहता हुआ तीसरा भाग है। (ब्रह्मचर्य्य का पालन करना तीसरा भाग है)

छान्दोग्य २.२३ (१-२)

[ब्रह्म प्राप्ति के लिये जो साधन वरते जाते है उनकी ओर सङ्केत करते हुए कठोपनिषद् मे तीन साधनो का वर्णन किया गया है —वेद पाठ, तप और ब्रह्मचर्य्य। ब्रह्मचर्य्य का अर्थ केवल पहले आश्रम की तपस्या ही नही। इसे अधिक विस्तृत अर्थो मे वरता गया है। इस ब्रह्मचर्य्य को सव आश्रमो मे मनुष्य सेवन कर सकता है। इसके दो अङ्ग है एक सयम दूसरा ब्रह्म जिज्ञासा (ब्रह्म की खोज)।]

१२—आचार्य्य का अन्तिम उपदेश

जव आचार्य्य अपने शिष्य को पढा चुके तो अन्तिम उपदेश यह दे —

१. सच वोलो, धर्म का आचरण करो।

स्वाध्याय मे आलस न करो।

आचार्य्य की धन से सेवा करते रहो और गृहस्थ मे प्रवेश करके ससार का क्रम प्रचलित रक्खो।

सत्य, धर्म, कौशल, स्वास्थ्य के नियम, ऐश्वर्य्य प्राप्ति के साधन करने और पढने पढाने मे आलस्य न करो।

पाठ-यज्ञ और दान देना यह सब के साझे के काम है। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण का कर्त्तव्य वेद पढाना, यज्ञ कराना और आवश्यकता पड़ने पर दान लेना भी है। क्षत्रिय का काम रक्षा करना और वैश्य का काम धन पैदा करना है। सब के साझे के कर्मो को यहाँ धर्म का पहला भाग कहा गया है।

धार्मिक, पारिवारिक और सामाजिक कर्मों के करने मे आलस्य न करो।

२. माता की पूजा करो, पिता की पूजा करो, आचार्य्य की पूजा करो, अतिथि (अपरिचित अभ्यागत) का सत्कार करो।

भले कर्म करो, बुरे कर्मो से बचो।

हमारे कर्मों में जो अच्छे है, उनका अनुकरण करो। दूसरो का नही।

दान श्रद्धा से देना चाहिये। श्रद्धा न हो तो भी देना चाहिये।

दान खुले हाथ देना चाहिये। अधिक न होसके तो थोडा ही देना चाहिये।

भय (लोकलज्जा) से भी दान देना चाहिये और इस विचार से भी कि जिस काम के लिये दान माँगा जाता है, वह भला काम है।

यदि तुम्हे किसी काम के सम्बन्ध मे सन्देह हो कि वह अच्छा है या बुरा। तो देखो कि कोई ऐसे ब्राह्मण हे जो समझदार है, नेक है, कोमल स्वभाव वाले है, धर्म को प्यार करने वाले है। ऐसे अवसर पर जैसा इन पुरुषो का व्यवहार हो, वैसा ही तुम भी करो।

इसी प्रकार यदि दुष्ट पुरुषो के सम्बन्ध में सन्देह हो कि उनके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये तो सोचो, 'समझदार, नेक, कोमल स्वभाव वाले, धर्म को प्यार करने वाले ब्राह्मण उनसे जैसा व्यवहार करेंगे, वैसा ही तुम भी करो।

यह मेरा आदेश है, यह मेरा उपदेश है, यह वेद की शिक्षा का सार है, यह वेद शास्त्र की आज्ञा है। इसी प्रकार धर्म का पालन करना चाहिये।

तैत्तिरीय उपनिषद् १-१३

१३—आदर्श सामाजिक जीवन

ऋत (यथार्थ आचरण) स्वाध्याय (वेद और दूसरी धार्मिक पुस्तको

का पढना) और प्रवचन (पढे हुए पर दूसरो से बातचीत करना और उसका प्रचार करना) आवश्यक है।

सत्य, स्वाध्याय और प्रवचन आवश्यक हैं।

तप—स्वाध्याय और प्रवचन आवश्यक हैं।

दम—(इन्द्रियो को वश मे रखना) स्वाध्याय और प्रवचन आवश्यक है।

शम—(मन की वृत्तियो को दोषो से हटाये रखना) स्वाध्याय और प्रवचन आवश्यक है।

अग्नि—(यज्ञ या विज्ञान) स्वाध्याय और प्रवचन आवश्यक हैं।

अग्निहोत्र—स्वाध्याय और प्रवचन आवश्यक है।

अतिथिसेवा—स्वाध्याय और प्रवचन आवश्यक हैं।

उचित सामाजिक व्यवहार—स्वाध्याय और प्रवचन आवश्यक हैं।

प्रजा—(राजव्यवहार) स्वाध्याय और प्रवचन आवश्यक हैं।

स्वास्थ्यरक्षा—स्वाध्याय और प्रवचन आवश्यक है।

अपनी सन्तान की उन्नति—स्वाध्याय और प्रवचन आवश्यक है।

तैत्तिरीयोपनिषद् अनुवाक ९, प्रथम वल्ली

मनुष्य समाज की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति सभ्यता है। प्रत्येक पीढी (Generation) का धर्म है कि वह इस सम्पत्ति को जो उसे पूर्वजो से प्राप्त हुई है—स्थिर रक्खे और बढाये। यही मनुष्यो और पशुओ में मुख्य भेद है। यही सभ्य तथा असभ्य जातियो में भेद है। इस सभ्यता का आधार ज्ञान पर है। उपनिपदो में उपयोगी ज्ञान पर विशेष बल दिया गया है। इस ज्ञान को उज्ज्वल रखने का मुख्य साधन यह है कि इसे बरता जावे, इसकी चर्चा की जावे, इसे फैलाया जावे। तैत्तिरीयोपनिषत् के उपदेश मे स्वाध्याय और प्रवचन को बार बार दुहराया गया है। यही दोनो सभ्यता की जान हैं। परन्तु ये दोनो पर्य्याप्त नही है। नई सभ्यता का एक दोष यह बताया जाता है कि उसने बुद्धि को बहुत बढा दिया है।

वुद्धि आत्मिक जीवन का भूषण है, परन्तु यह सम्पूर्ण जीवन तो नही है। स्वाध्याय और प्रवचन के साथ और गुणो की भी आवश्यकता है। इस उपदेश मे उनका व्योरा दिया गया है। इनमे कुछ मनुष्य के कर्मों से सम्वन्ध रखते है, कुछ उसके शील से। वे गुण ये है —अ-व्यक्तिगत जीवन —

१ सदाचार।

२ सत्य (सच्चाई की खोज और उस पर आचरण करना)।

३ इन्द्रियो और मन को वश में रखना।

४ स्वास्थ्य की रक्षा करना।

५ यज्ञ करना।

व—पारिवारिक जीवन —

६ सन्तान की रक्षा करना और उसे उन्नत करना।

स—सामाजिक जीवन —

७ अतिथि सेवा।

८ दूसरो से उचित व्यवहार (नागरिक के कर्त्तव्यो का पालन करना)

द—राज कार्य्य करने वालो के लिये —

९ राजकार्य्य ठीक ठीक करना।

१४—श्रेय: और प्रेय:

(धर्म मार्ग और भोग-मार्ग)

श्रेय (धर्म का मार्ग) एक वस्तु है और प्रेय (भोग का मार्ग) दूसरी वस्तु है। ये दोनो दो विभिन्न उद्देश्यो को रखते हुए मनुष्य को बाँधते है। जो मनुष्य श्रेय को ग्रहण करता है, उसका कल्याण होता है; जो प्रेय: को ग्रहण करता है, वह अपने उद्देश्य को प्राप्त नही करता।

श्रेय और प्रेय दोनो मनुष्य के सामने आते है। बुद्धिमान पुरुष दोनो

की जाँच करता है और उनमें भेद करता है। बुद्धिमान श्रेय को चुन लेता है, परन्तु मूर्ख लोभवश प्रेय को पसन्द करता है।

अविद्या में फँसे हुए, अपने आपको धीर और पण्डित समझते हुए बेसमझ लोग भटकते, चक्कर लगाते रहते है, जैसे अन्धे जिनका मार्गप्रदर्शन अन्धे ही करते हो।

जो मूर्ख धन के मद में मस्त है, उसे परलोक दिखाई नही देता। वह समझता है कि वास्तव मे इसी लोक का अस्तित्व है, इससे परे कुछ नही। ऐसा मानने वाला जन्म मरण के चक्कर मे पडा रहता है।

× × ×

बहुत से लोगो को आत्मा के सम्बन्ध मे सुनने का अवसर ही नही मिलता। बहुतेरे इसके सम्बन्ध मे सुनते है, परन्तु उसके स्वरूप को समझते नही।

आत्मा के स्वरूप को समझाने वाला कही विरला ही मिलता है। ऐसे गुरु से शिक्षा पाकर समझने वाला भी विरला ही होता है।

जिस मनुष्य ने आपही आत्मा को नही जाना, उसके समझाने से दूसरा समझ नही सकता, चाहे वह कितना ही विचार कर ले। किसी योग्य गुरु के समझाये विना आत्मा का स्वरूप समझ मे नही आता। यह बहुत सूक्ष्म है। शेष सब पदार्थों से अति-सूक्ष्म है।

कठ. २ (१-२) (५-८)

१५—यम का नचिकेता को उपदेश

चारो वेद जिस पद की व्याख्या करते है; सारे तप जिसका वर्णन

करते हैं, जिस पद की इच्छा करते हुए मनुष्य ब्रह्मचर्य्य को धारण करता है, उस पद को मैं तुम्हें सक्षेप मे बताता हूँ—वह 'ओ३म्' है।

निश्चय रूप से यह अक्षर (नाश न होने वाला) ही 'ब्रह्म' है। यह अक्षर ही परम (सबसे श्रेष्ठ) है। इसी अक्षर को जानकर जो पुरुष जिस वस्तु की कामना करता है, वह उसे प्राप्त हो जाती है।

'ओ३म्' का यह सहारा सबसे उत्तम है, यह सहारा सबसे ऊँचा है; इस सहारे को जानकर ब्रह्म मे प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

कठ. २ (१५-१७)

१६—जीवात्मा और परमात्मा

दो पक्षी है, वे एक दूसरे के मित्र और प्रेमी है। एक ही वृक्ष (प्रकृति की सृष्टि) पर बैठे है। उनमें से एक इस वृक्ष के स्वादिष्ट फलो को खाता है। दूसरा न खाता हुआ केवल देखता है।

उस वृक्ष पर पुरुष अर्थात् जीवात्मा फल चखने मे मस्त मोह मे अपनी दुर्बलता पर शोक करता है, किन्तु यदि वह इस दूसरे पक्षी अर्थात् परमात्मा को और उसकी महिमा को जान लेता है तो उसका शोक मिट जाता है।

मुण्डक ३।१ (१-२)

[ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनो के अस्तित्त्व का यहाँ वर्णन हुआ है और उनके परस्पर सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है। ईश्वर और जीव दोनो आत्मा है। इस विचार से दोनो एक श्रेणी मे है और मित्र है। प्रकृति की सृष्टि को जीवात्मा भोगता है और इस भोग में इतना फँस जाता है कि भोग शोक का कारण बन जाता है। शराबी शराब सुख के लिये पीता है, परन्तु अनुभव उसे यह बताता है कि यह सौदा महँगा है। यही दशा जीव की है। जब उसे ठोकर लगती है, तब यह सीधे मार्ग पर

चलता है और परमात्मा का चिन्तन करता है। इस चिन्तन और ज्ञान से उसका शोक नष्ट हो जाता है। मनुष्य का कल्याण इसी मे है कि सासारिक सुखो का दास न बन जाय, परमात्मा का ध्यान करे और अपने आत्मिक जीवन को उन्नत करे। परमात्मा ज्ञान स्वरूप है और ब्रह्माण्ड को देखता है। परन्तु विषयो से उत्पन्न होने वाले सुखो से उसे कोई सम्बन्ध नही।]

१७—ब्रह्म प्राप्ति के साधन

वह परमात्मा व्याख्यान से नही मिलता है, न यह बुद्धि से, न बहुत सुनने-पढने से। जिसे वह चुन लेता है (जिसे अपनी कृपा का पात्र पाता है) उसीको प्राप्त होता है। उसी कृपा पात्र के सम्मुख वह अपने आपको प्रकट करता है। वह परमात्मा उन व्यक्तियो को प्राप्त नही होता जो बलहीन है। न उनको जो प्रमाद (आलस्य) में फँसे हुए है, न उनको जिनका आधार तप और सन्यास के बाह्य चिह्नो पर है। हाँ, जो विद्वान उन त्याग आदि उपायो से लगातार यत्न करते रहते है उनको प्राप्त होता है और वे ब्रह्म धाम में प्रवेश करते है।

मुण्डक ३-२ (३-४)

निश्चय ही परमात्मा सत्य, तप, उचित ज्ञान और अखण्ड ब्रह्मचर्य्य से प्राप्त होता है। यह परमात्मा हमारे अन्दर ही उपस्थित है, यह ज्योतिर्मय है और पवित्र है, जिन सयमी पुरुषो के दोष नष्ट हो चुके है, उन्हें इसके दर्शन होते है।

मुण्डक १-३ (५)

१८—ब्रह्म का स्वरूप

ब्रह्म के न तो हाथ है, न पाँव, परन्तु वह अत्यन्त तेज चलने वाला है, और सब कुछ को पकडे है। उसके आँखें नही है, परन्तु सब को देखता

हैं, कान नही हैं, परन्तु सब कुछ सुनता है। वह सब जानने योग्य वस्तुओ को जानता है, परन्तु कोई उसे पूर्णतया नहीं जानता। उसे सबसे उत्तम और महान पुरुष कहा गया है।

श्वेताश्वतर ३-१९

वह सब स्वामियो का स्वामी है, समस्त देवताओ का देवता है। सारे ज्योतिर्मय पदार्थो को ज्योति देने वाला अथवा सब ज्ञानियो को ज्ञान देने वाला है। समग्र रक्षको का रक्षक है, सब पवित्र पदार्थो से पवित्र है। सारे विश्व का स्वामी है। वह उपासना करने योग्य है। उसे ही हम जानें।

उस ब्रह्म का कोई कार्य्य नही। वह कोई रूप धारण नही करता। न कोई उसका रङ्ग है, न कोई उसके समान है, न कोई उससे बडा है।

उसकी पवित्र शक्ति अनेक प्रकार की कही जाती है। उसका ज्ञान, बल और उसकी क्रिया सब स्वाभाविक है। (किसी बाह्य विवशता अथवा प्रभाव का परिणाम नहीं।)

ससार मे कोई उसका स्वामी नही, न कोई उसे वश में करने वाला है। न कोई उसका चिह्न है। वह जगत का कारण है, वह जीवात्माओ का शासक है। उसका उत्पन्न करने वाला तथा प्रभु कोई नही। वह एक देव सब प्राणियो मे छिपा हुआ, सर्व व्यापक, सर्वान्तिर्यामी है। वह सब कार्य्यो को देखता है तथा समस्त पदार्थो मे उपस्थित है। सब कुछ देखता है, जानता है, वह अकेला है और निर्गुण है।

वह अनेक निष्क्रिय (बेजान) पदार्थो पर शासन करता है, वह एक बीज से अनेक रूप वाले जगत को उत्पन्न करता है। जो बुद्धिमान पुरुष अपने आत्मा मे स्थित ऐसे ब्रह्म को देखते है उन्हें सदा रहने वाला सुख मिलता है। और किसी को यह सुख नही मिल सकता।

जो कुछ स्थिर रहने वाला है, उससे अधिक स्थायी वह ब्रह्म है। वह चेतनो मे सबसे अधिक चेतन (ज्ञान रखने वाला) है। वह एक सब जीवो की कामनाओ को पूर्ण करता है। उस जगत के कारण परमेश्वर को जो साङ्ख्य और योग (ज्ञान और कर्म) से जानने योग्य है—जानकर मनुष्य सारे बन्धनो से मुक्त हो जाता है।

वहाँ (जहाँ ब्रह्म है) न सूर्य्य चमकता है, न चाँद, न सितारे, न बिजलियाँ। यह आग तो वहाँ कैसे चमकेगी ? जब वह चमकता है तो उसके पीछे यह सब चमकते है। उसके प्रकाश से यह सारा जगत प्रकाशित है।

श्वेताश्वतर ६-७-६ (११-१४)

[ब्रह्म का जो स्वरूप यहाँ वर्णन किया गया है उसमे दो बातो पर विशेष बल दिया गया है। एक यह कि वह केवल आत्मा है, प्रकृति का उसमे लेश नही। न कोई उसकी मूर्त्ति बन सकती है। दूसरी यह कि ससार में जो शक्तियाँ दिखाई देती है, वह वास्तव मे उसकी दी हुई है। सूर्य्य, चाँद, तारे अपनी चमक से नही चमकते, परन्तु परमात्मा की दी हुई शक्ति से चमकते है। यह विचार उपनिषदो मे बहुत प्रधान है। श्वेताश्वतर का ६ १२ ज्यो का त्यो कठोपनिषद् के ५ . १२ में मिलता है। श्वेताश्वतर ६ १३ का पहला भाग कठोपनिषद् के ५ . १३ का पहला भाग है। कठके ५ १३ का दूसरा भाग उसके ५ १३ के दूसरे भाग से मिलता है। केवल 'सुख' के स्थान पर शब्द 'शान्ति' डाला गया है। श्वेताश्वतर का ६ १४ कठ तथा माण्डूक्य उपनिषदो मे भी आया है। न केवल यह विचार ही प्रधान और सार्वजनीन था, वरन् जान पडता है कि यह श्लोक भी प्रचलित था और कई उपनिषदो मे उसका प्रयोग हुआ।]

अध्याय ३

योग दर्शन

(क) समाधिपाद

१—योग क्या है ?

योग चित्त की वृत्तियो का रोकना है।

वृत्तियो के रुक जाने पर आत्मा अपने स्वरूप मे स्थिर हो जाता है।

वृत्तियाँ यदि न रुके तो आत्मा वृत्ति रूप को ही ग्रहण कर लेता है।

वृत्तियाँ पाँच प्रकार की है। वे क्लेशो को देनेवाली है और सुख देने वाली भी। (२—५)

[आज कल वेकारी और दरिद्रता के सम्वन्ध मे वहुत कुछ कहा सुना जाता है, परन्तु नगरो में सिनेमा-भवनो के वाहर भीड लगी रहती है। साधारण पुरुष भी अपना समय खर्च करते है और खेल देखते है। अच्छा खेल वह समझा जाता है जो देखनेवालो को पूर्णतया अपने आप में मग्न कर लेता है। जव तक देखनेवाला उसे देखता है, उसे अन्य पदार्थों का ध्यान ही नही आता। वह अपने आप को भी भूल जाता है। खेल में लीन हो जाने का अर्थ क्या है ? देखनेवाला अपने आप को दृश्य रूप वना लेता है। जव देखता है कि किसी पुरुष का इकलौता वेटा जवानी में किसी अत्याचारी के हाथ से मारा गया है, तो वह रोना चिल्लाना प्रारम्भ कर देता है। वास्तव में न उसका बेटा मरा है, न खेल करनेवाले का। खेल करनेवाला तो रुपया दो रुपया की

मजदूरी के लिये खेल कर रहा है, किन्तु खेल देखने वाला, खेल देखते हुए, यह भेद नही करता। उसकी बुद्धि उस समय काम नही करती। वह अपने आपको मानो रङ्गस्थल पर खेल करता हुआ अनुभव करता है। इस सहानुभूति के कारण वह सुख या दुख का अनुभव करता है। इसी के लिये वह अपना समय और धन व्यय करता है। नाटक समाप्त होने पर वह वाहर आता है। उस समय वह ससार में प्रविष्ट होता है जो नाटक के जगत से भिन्न है और स्थायी-विषयात्मक-अस्तित्व (Permanent objective existence) रखता है। इस ससार के नियम, नाटक के नियमो से भिन्न है। इसमे सुख, दुख और सफलता के साधन भी भिन्न है।

यह साधारण पुरुष का विचार है। दार्शनिक इससे आगे जाता है और पूछता है "क्या यह दूसरी सृष्टि जिसे हम नाटक की सृष्टि से भिन्न समझते है, वास्तव मे नित्य और स्थायी है?" यह भी एक दूसरे प्रकार की नाटकीय सृष्टि तो नही है? दार्शनिक विचार हमारे मन मे सन्देह उत्पन्न कर देता है और वहुधा मनुष्य इस दशा में इसी परिणाम पर पहुँचता है कि यह बाहरी सृष्टि भी नाटकीय सृष्टि है। हमारे सब सुख दुख इसी कारण से होते है कि हम अपने आपको सासारिक पदार्थों के साथ जोड कर उनका रूप ही बना लेते है। आवश्यकता इस वात की है कि इस वडे नाटक घर से भी वाहर निकलें। उसके दृश्यो के वास्तविक स्वरूप को जाने और इस एकता के सम्बन्ध को जिसने हमे सुख-दुख के सागर में डुबो दिया है, तोड दे। इससे अपने आपको पृथक कर लें। इस प्रकार अपने आपको अलग कर लेना ही वास्तव में वृत्तियो को रोकना है। ऐसा करने के पश्चात् हम अपने वास्तविक स्वरूप को देखेगे, इसमे आनन्द अनुभव करेंगे। दूसरे, एक पग और आगे चलना होगा और वह यह कि हम परमात्मा के साथ अपने को मिला देगे। यह हमारी यात्रा का अन्तिम पडाव है।

योग का उद्देश्य इस पथ पर चलते हुए, इसके गन्तव्य तक पहुँचना है। योग शब्द को भाष्यकारो ने 'वियोग', 'उद्योग' और 'सयोग' के अर्थों मे लिया है। कुछ कहते है कि योग आत्मा और प्रकृति के वियोग का नाम है। कुछ कहते है कि यह एक विशेष उद्योग अथवा यत्न का नाम है जिसकी सहायता से आत्मा अपने आपको उन्नति के शिखर पर ले जाता है। कुछ कहते है कि योग ईश्वर और जीव के सयोग का नाम है"। सच तो यह है कि योग मे यह तीनो अङ्ग सम्मिलित है। अन्तिम उद्देश्य 'सयोग' है, उसके लिये उद्योग की आवश्यकता है और इस उद्योग का मुख्य साधन अथवा स्वरूप ही यह है कि प्रकृति से वियोग किया जाय।

योग दर्शन में बताया गया है कि जब तक आत्मा सासारिक पदार्थों में आसक्त रहता है, अपने आपको उनमें लीन किये रहता है, उस समय तक उसे सुख दुख होता है। आत्मा और प्रकृति का सयोग ही क्लेशो का कारण है। जिन अवस्थाओ को यह सुख समझता है, वे भी वास्तव मे दुख है। उन्हे प्राप्त करने मे दुख होता है, उन्हे सम्हाले रखने मे दुख होता है, जब वे चली जाती है, तब दुख होता है और उनकी स्मृति दुख का कारण होती है। चित्त की वृत्तियो को, जो इस सयोग से उत्पन्न होती है, यदि रोक दिया जाय तो आत्मा अपने स्वरूप मे स्थिर हो जाता है और क्लेशो से मुक्त हो जाता है।]

२—वृत्तियो का वर्णन

वृत्तियाँ पाँच है —प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।

१ प्रमाण (यथार्थ ज्ञान) तीन प्रकार का है —

(अ) प्रत्यक्ष—(जो कुछ ज्ञान इन्द्रियो की सहायता से जाना जावे। सत्य ज्ञान जो किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को बताता है।)

(आ) अनुमान—(कारण से कार्य और कार्य से कारण का ज्ञान। पृथ्वी गोल है। समस्त पृथ्वी को हम एक साथ देखते नही, परन्तु ऐसी

सत्य घटनाओ को जानते है, जिनसे पृथ्वी के गोल होने का अनुमान कर लेते हैं। विज्ञान का वहुत वडा भाग अनुमान ही है।)

(इ) आगम—(वह ज्ञान जिसे हम दूसरे के कहने पर सत्य स्वीकार करते है। इतिहास में जो कुछ लिखा है, उसे हमने देखा नही, न उसका अनुमान किया, परन्तु दूसरो के कथन को मान लिया है। विशेप अर्थों मे श्रुति की शिक्षा को आगम कहा गया है। जो कुछ वेद मे कहा गया है, वह मानने के योग्य है। इसका अर्थ यह है कि हम अपने सम्पूर्ण ज्ञान को प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमा में वाँध नही सकते। वहुत सी वातें ऐसी है, जो इन दोनो की पहुँच से वाहर है।)

२ विपर्य्यय (मिथ्या ज्ञान)—जो ज्ञान किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप पर नही है। (दूर से चमकते हुए रेत को हम पानी की नदी समझते है, वृक्ष के तने को देख कर डाकू की भावना करते है।)

३. विकल्प—जहाँ ज्ञान शव्द मात्र है, परन्तु पदार्थ कोई नही उसे विकल्प कहते है। गणित का ज्ञान इस प्रकार का ज्ञान है। उसमें सीधी रेखा, त्रिभुज और वृत्तो के सम्वन्ध में विचार किया जाता है, परन्तु सरल रेखा, त्रिभुज और वृत्तो का जो वास्तविक अर्थ है उसके अनुरुप कोई पदार्थ ससार मे उपस्थित नही है। कोई रेखा पूर्णतया सरल रेखा नही है। कोई त्रिकोण, पूर्णतया अपनी परिभापा के अनुसार पूरा नही उतरता। वुद्धि कुछ धारणायें निश्चित करती है, उन्हें विशेष नाम देती है और उनके सम्वन्ध मे पुन विचार करती है।

४ निद्रा—अभाव की प्रतीति का आश्रय करने वाली वृत्ति है।

५ स्मृति—जिन पदार्थों को पहले देखा सुना है, उनका फिर दुवारा चित्त के सामने लाना स्मृति है। (६–११)

यह वृत्तियो का वर्णन हो रहा है। निद्रा से तात्पर्य स्वप्न है। स्वप्न में वे पदार्थ जिनका वास्तविक अस्तित्व कुछ नही है, सत्य प्रतीत होते है। ऐसा प्रतीत होता है कि मै मित्र से वात कर रहा हूँ, उसके साथ हँसता-

खेलता हूँ। सत्य यह होता है कि उस समय मेरा मित्र यहाँ होता ही नही। मेरी कल्पना यह खेल रचती है।

स्मृति मे पिछले अनुभव फिर चित्त में आते है। स्मृति का सम्बन्ध भूत काल से है। वर्तमान या भविष्य की घटनाओ को याद करना निरर्थक शब्द है। स्मृति पिछले अनुभवो को ज्यो का त्यो हमारे सामने रख देने का यत्न करती है और स्मृति के साथ यह विश्वास भी सम्मिलित होता है। वास्तव मे स्मृति कई वातो को छोड देती है, कई ऐसी वाते मिला देती है जो हुई ही नही, परन्तु वहुत सीमा तक इसका दिया हुआ ज्ञान यथार्थ होता है। और प्रत्येक दशा मे स्मृति काल में हम उसे यथार्थ ही स्वीकार करते है। निद्रा की अवस्था में जो ज्ञान होता है, उसे भी हम निद्रा की अवस्था में यथार्थ ही मानते है, परन्तु जाग्रत में आते ही अपनी सम्मति वदल देते है। स्मृति का आधार यथार्थ ज्ञान (प्रमाण) पर होता है। निद्रा ऐसे ज्ञान में परिवर्तन करती है कि एक अङ्ग यहाँ से लेती है, दूसरे को वहाँ से, और उनको सम्मिलित करके नया पदार्थ वना देती है।

३—वृत्तियो का निरोध कैसे हो सकता है ?

वृत्तियो का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है।

अभ्यास उस यत्न का नाम है जो चित्त को परमात्मा में स्थिर करने के लिये किया जाता है। अभ्यास की दृढ भूमि वनाने के लिये यह वातें आवश्यक है —

अ—देर तक किया जाय।

आ—इसके करने में वाधा न हो। यह निरन्तर हो।

इ—यह सत्कार या श्रद्धा से किया जाय। (१२-१४)

[यहाँ अभ्यास एक विशेप अर्थ मे लिया गया है। परन्तु जो कुछ इसे दृढ भूमि वनाने के लिये कहा गया है, वह हर प्रकार के अभ्यास के लिये कहा जा सकता है। मनुष्य सस्कारो का समूह है। एक प्रकार की

नही तो दूसरे प्रकार की आदते उसकी अवश्य वनेगी। अच्छी शिक्षा का उद्देश्य यह है कि वह प्रत्येक को अच्छी आदतें वनाने मे सहायता दे। किसी आदत को वनाने के लिये मनोविज्ञान की शिक्षा के अनुसार आवश्यक है कि उसके लिये उस समय तक यत्न किया जावे जव तक वह वन न जाय। कोई मनुष्य एक दिन में रागी नही वन सकता। कोई मनुष्य एक दिन में समय पर कार्य करने का स्वभाव नही वना सकता। इसके लिये पर्याप्त समय चाहिये। यह भी आवश्यक है कि जव तक आदत न वन जाय, तव तक कोई अपवाद न होने दिया जाय। एक दिन के अपवाद से दस दिन का फल नष्ट हो जाता है। तीसरी वात जिस पर वल दिया गया है, यह है कि अभ्यास सत्कार अथवा श्रद्धा से किया जाय। दूसरे की आज्ञा से कोई पुरुप सत्स्वभाव नही वना सकता। जव तक वह आप इनके मूल्य में विश्वास नही करता और उनके वनाने के लिये सम्पूर्ण हृदय से यत्न नही करता, उसका यत्न सफल नही हो सकता।]

जिस मनुष्य ने इस जन्म और आने वाले जन्मो की तृष्णाओ को छोड दिया है, उसका सयम वैराग्य कहलाता है।

परमात्मा के दर्शन से प्रकृति के गुणो मे तृष्णा का मिट जाना उत्तम वैराग्य है।

(१५-१६)

[वैराग्य का अर्थ राग से मुक्त होना है। इस ससार के पदार्थो मे मन लगा हो, तो वास्तविक सुख मिल नही सकता। जो पुरुष भविष्य जन्म के भोगो के लिये तरस रहा है, वह भी मज़दूर की भाँति अपना काम कर रहा है। धर्म का फल आनन्द तो होता है, परन्तु जो पुरुष इस आनन्द को मुख्य समझ कर धर्म करता है, वह इन दोनो का मूल्य लगाने में भूल करता है। कर्तव्य को इसी विचार से करना चाहिए कि वह कर्तव्य है। ऐसा करना वैराग्य है। यह आचार का वहुत ऊँचा दरजा है। इससे भी

ऊँची श्रेणी यह है कि मनुष्य परमात्मा के दर्शन के लिये यत्न करे। जब यह दर्शन हो जाता है, तब पदार्थों का राग स्वय ही समाप्त हो जाता है। यह वैराग्य, निष्काम कर्म से उत्पन्न वैराग्य से भी उत्तम वैराग्य है।]

४—ईश्वर और ईश्वर भक्ति का फल

क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासनाओ से न छुआ हुआ पुरुष विशेष (जीव से विशेष अलग) ईश्वर है।

ईश्वर मे सर्वज्ञता सम्पूर्ण है। (उसके ज्ञान मे कोई बढती नही हो सकती)।

ईश्वर काल की सीमा से परे है। अतएव पहले के आचार्यो का गुरु है। सम्पूर्ण सत्य ज्ञान, अन्त मे इसका ही दिया हुआ है।[1]

ओ३म् उनका नाम है।

ओ३म् का जाप और उसके अर्थ का चिन्तन करना (ईश्वर की) भक्ति है।

इसके जाप तथा चिन्तन से आत्मज्ञान होता है और विघ्नो का अभाव हो जाता है।

विघ्न यह है —

राग—(पदार्थो मे अनुचित स्नेह), कर्म करने में अरुचि, सशय, प्रमाद (योगसाधन की ओर से असावधानी), आलस्य, तृष्णा, मिथ्याज्ञान, समाधि अवस्था तक न पहुँचना, इस अवस्था मे पहुँच कर वहाँ स्थिर न रहना।

---

[1] सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते है, उनका आदि मूल परमेश्वर है।

(आर्य समाज का पहला नियम)

इन विघ्नो के साथ निम्नलिखित त्रुटियाँ भी होती हैं —

दुख, इच्छा पूरी न होने से अप्रसन्न होना, शरीर के अङ्गो का काँपना, श्वास प्रश्वास (इच्छा के विरुद्ध प्राण का बाहर आना और भीतर जाना)।

(२४-३१)

५—चित्त की निर्मलता और एकाग्रता कैसे हो सकती है?

सुखी पुरुषो के साथ मित्रता करने, दुखी पुरुषो पर दया करने, धर्मात्मा पुरुषो के सम्बन्ध मे प्रसन्नता, पापी पुरुषो की ओर ध्यान न देने से चित्त की निर्मलता होती है। अथवा प्राणायाम से चित्त एकाग्र होता है।

अथवा दिव्य विषयो वाली प्रवृत्ति उत्पन्न हो कर मन की स्थिरता को बाँधती है।

धर्म का निरन्तर विचार करने से, मन को एकाग्रता प्राप्त होती है।

अथवा शोक से रहित प्रकाशवान वृत्ति चित्त को एकाग्र करती है।

अथवा विषयो के मोह से मुक्त हो कर चित्त एकाग्रता ग्रहण करता है।

अथवा स्वप्न के समान किम्वा निद्रा के समान ज्ञान का आश्रय करने वाला चित्त एकाग्र होता है।

(स्वप्न या निद्रा की दशा मे भी हम वाह्य जगत के सम्बन्ध से परे हो जाते है।) अथवा जो कुछ किसी व्यक्ति की रुचि के अनुकूल है उस पर ध्यान लगाने से मन स्थिर हो जाता है।

परमाणु से ले कर महानतम पदार्थ तक मन के वश करने का स्थान है।

(छोटे या बडे किसी पदार्थ को भी मन की स्थिरता के लिये साधन वनाया जा सकता है।)

(३०-४०)

(ख) 'साधनपाद'

६—कर्मयोग और उसका फल

'तप, स्वाध्याय और ईश्वर भक्ति'—यह कर्मयोग है। (१-२)

जीवन के क्लेश '—क्लेश पांच हैं —१. अविद्या, २. अस्मिता, ३ राग, ४. द्वेष, ५ अभिनिवेश (मृत्यु भय)।

सोये हुए, निर्बल, समाप्त हो चुके हुए, और वर्तमान अस्मिता आदि चार क्लेशों का क्षेत्र अविद्या है। (३-४)

[क्लेश का अर्थ दुख किया जाता है। परन्तु दुख क्लेशो मे से एक है। क्लेश का विस्तृत अर्थ बुराई (बदी) है। प्राचीन यूनान के दार्शनिको ने अच्छे शील या चरित्र के चार प्रधान चिह्न कहे है। विद्या या बुद्धि, साहस (दिलेरी), संयम और न्याय। बाकी सद्गुणो का इनके साथ सम्बन्ध है। उनके विपरीत चिह्न आचार के दोष है। विद्या या बुद्धि का अभाव अविद्या है। साहस का अभाव कायरता है। सारी कायरता अन्त में मृत्यु का भय (अभिनिवेश) ही है। सयम का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने जीवन मे एक रसता (Equilibrium) सयम (Balance) स्थिर रक्खे। वर्तमान मे जो वासनाये उत्पन्न होती है उन्ही मे डूब न जाय। उनसे अपने आपको अलग रक्खे। तब ही इन वासनाओ की जांच पड़ताल कर सकता है और आवश्यकता होने पर उनको दवा सकता है। यदि वह अपने आपको वर्तमान क्षण के विचार के साथ सम्पूर्णतया मिला दे, इन दोनो को एक ही समझे, तो वह सयम को स्थिर नही रख सकता। उसके जीवन मे एकता नही रह सकती। समता के अभाव मे ही सयम का अभाव होता है। इसी को योग दर्शन मे अस्मिता कहा गया है। दूसरो के साथ व्यवहार करने मे हमे न्याय का आचरण करना चाहिए। न्याय का आधार इस भाव पर है

कि मानवता के विचार से सब मनुष्य समान है। प्रति व्यक्ति एक है। कोई एक से अधिक या न्यून नही है। अपने व्यवहार मे हम इस नियम को नही बरतते, उसका कारण राग द्वेष ही है। हम कुछ लोगो से स्नेह करते है और कुछ लोगो से द्वेष। राग और द्वेष न्याय के प्रतिकूल है। अफलातून ने मुख्य सद्‌गुणो का वर्णन किया है।– योग दर्शन मे दोषो का वर्णन आया है, परन्तु दोनो विचारो का परिणाम एक ही है।

योग दर्शन में कहा गया है कि इन पाँच क्लेशो मे अविद्या का स्थान विशेष है। दूसरे क्लेशो का यह क्षेत्र है। वे क्लेश अविद्या पर ही निर्भर है। अविद्या न हो तो वे फल फूल नही सकते। अविद्या मे फँस कर अपने आप को वर्तमान वृत्ति ही समझ लेना अस्मिता है। राग द्वेष मनुष्यो को मनुष्य न समझने का फल है। भय अविनाशी आत्मा को तो होना ही नही चाहिए। भय मनुष्य को उसी समय होता है जब अविद्या के कारण वह यह समझ लेता है कि कोई दूसरा उसका हनन कर सकता है। जिसने आत्मा के स्वरूप को जान लिया है उसे भय किस वस्तु का हो सकता है? वह अनुभव करता है कि आत्मा को तलवार काट नही सकती, आग जला नही सकती, पानी डुबो नही सकता।]

अविद्या—अनित्य को नित्य समझना, बुराई को भलाई समझना, दुख को सुख समझना और जड पदार्थ को आत्मा समझना अविद्या है।

अस्मिता—द्रष्टा और दर्शन को सहायता देने वाली बुद्धि—इन दोनो को एक समझना अस्मिता है।

[किसी विशेष पदार्थ का ज्ञान, उस समय की अवस्था पर निर्भर होता है। वह अवस्था कई कारणो से बदलती रहती है। द्रष्टा की स्थिति में आत्मा इन सब अवस्थाओ से पृथक है। इन सब को देखता है, इनकी जाँच करता है और इनके सम्बन्ध में निश्चय करता है। आत्मा का अपने आपको किसी विशेष अवस्था का रूप ही समझ लेना अस्मिता है।]

सुख के साथ मिला हुआ राग है।

[जिस पदार्थ से सुख मिले उसके लिये राग हो जाता है।]

दुख के साथ मिला हुआ द्वेष है।

जो भय सबको स्वभाव से है वह (साधारण पुरुषो की तरह) विद्वानो की दशा मे भी प्रसिद्ध है, वह 'मृत्यु का भय' अभिनिवेश कहलाता है।

[प्रत्येक प्राणी की चेष्टा होती है कि वह अपने जीवन को स्थिर रक्खे। जब उस पर कोई प्रहार होता है, तो वह उससे अपने आपको बचाने का यत्न करता है। सारे भय, अन्त मे मृत्यु भय के ही आकार है।]

"क्लेशो से छूटने का उपाय।"

दृष्टा (आत्मा) और दृश्य (जो कुछ देखा जाता है, ससार) का सयोग ही दुख का कारण है।

[ससार के विषयो मे फँसने से ही दुख होता है।] (१७)

उस सयोग का कारण अविद्या है। (२४)

स्थिर विवेक (ज्ञान) क्लेशो से छूटने का उपाय है।

योग के आठ अङ्गो का अनुष्ठान करने से अशुद्धि नष्ट हो जाती है। और इससे पूर्ण विवेक की प्राप्ति तक ज्ञान का प्रकाश बढता जाता है। (२८)

७—योग के अङ्ग

योग के आठ अङ्ग है —

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

१. यम और नियम।

अहिंसा (वैर त्याग), सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (भोगो की सामग्री को इकट्ठा करने की चेष्टा से बचना), जाति,

काल, देश और समय कुछ हो, प्रत्येक दशा मे यमो पर आचरण करना महाव्रत है।

शौच, सन्तोप, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम है।
(३०-३२)

[मनुष्य के जीवन को भागो में तोड फोड नही सकते। जीवन का प्रधान चिह्न एकता है, तो भी उसके भिन्न भिन्न आकारो को अलग अलग चिन्तन का विषय बना सकते है। इस प्रकार मनुष्यजीवन के शुभ गुणो को व्यक्तिगत और सामाजिक सद्‌गुणो की दृष्टि से देखा जा सकता है। यम सामाजिक सद्‌गुण है और नियम व्यक्ति गत सद्‌गुण। सामाजिक सद्‌गुण यही है कि हम दूसरो के अधिकारो का मान करे, आप जियें और दूसरो को जीने दें। इसके लिये सबसे बढ कर आवश्यक यह है कि हम दूसरो के लिये वैरभाव न रक्खे। इसी को न्याय कहते है। यदि हम इसके परे नही जा सकते, तो इतना तो अवश्य कर सकते है। यह अहिंसा है। समाज का सगठन इस बात पर निर्भर है कि एक मनुष्य दूसरे के कथन पर विश्वास कर सके। प्रतिज्ञा या इकरार की पवित्रता को स्वीकार किया जावे। यह सत्य है। जीवन के लिये जीवन की सामग्री की आवश्यकता है। वह प्रत्येक पुरुष अपने लिये आप कमाता है। यदि वह उसे अपने लाभ या सुख के लिये बरत नही सकता, तो उसका परिश्रम व्यर्थ है। समाज मे प्रत्येक का धर्म है कि दूसरो के अधिकारो का मान करे। यह अस्तेय (चोरी न करना) है। ब्रह्मचर्य को यमो में गिना गया है। जो पुरुष दुराचारी है, वह अपनी हानि तो करता ही है, परन्तु इससे अधिक दूसरो की हानि करता है। उनकी मर्य्यादा को मिट्टी में मिला देता है। वह समाज को हानि पहुँचाता है, क्योकि सामाजिक जीवन का आधार पारिवारिक आचरण की पवित्रता पर है। अपरिग्रह का अर्थ यह है कि मनुष्य जीवन की सामग्री मे अपने भाग्य पर सन्तोष करे। आप जीवित रहे और दूसरो को जीने दे।

जीवन के नियमो मे वहुत से नियम ऐसे होते है, जो सव मनुष्यो पर प्रत्येक अवस्था मे लागू नही होते। जो मनुष्य वैद्य वनना चाहता है, उसके लिये विशेप शिक्षा और विशेप प्रकार के जीवन की आवश्यकता है। वैद्य वन जाने मे इन नियमो मे परिवर्तन होता है। इसी प्रकार के भेद जाति, देश, काल और समय के भेद है। परन्तु यमो के सम्वन्ध मे कहा गया है कि इन पर सव मनुष्यो को प्रत्येक दशा मे आचरण करना चाहिये। ऐसा आचरण करना महाव्रत है।

व्यक्तिगत जीवन में हमारा उद्देश्य यह है कि हम अपनी शक्तियो का पूर्ण विकास करें। अपने आपको, इतना ऊँचा ले जायँ, जितना ले जा सकते है। व्यक्तिगत जीवन के दो भाग है . प्राकृतिक और आत्मिक। शरीर के सम्वन्ध में सवसे उत्तम वस्तु स्वास्थ्य है। स्वास्थ्य का आधार वाह्य अथवा अन्त पवित्रता या शौच है। आत्मिक जीवन में ज्ञान, कर्म और सुख दुख का अनुभव तीन अग है। ज्ञान के लिये, स्वाध्याय उत्तम सावन है। इच्छा शक्ति की वृद्धि के लिये तप उत्तम साधन है। सुख प्राप्ति के लिये, पदार्थों के पीछे पागल की भाँति भागना इतना ही सफल हो सकता है जितना घी के छीटो से अग्नि को वुझाना। घी के छीटो से अग्नि और भी प्रचण्ड होती है; वुझती नही।]

सुख के साधन यह है —मनुष्य अपनी आवश्यकताओ को सीमित करे। इन सीमित आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये पूर्ण यत्न करे, और जो कुछ इस यत्न का फल हो, उसे हर्प से स्वीकार करे। यह सन्तोष है। सन्तोप, तप, स्वाध्याय, मनुष्य के निज जीवन के वहुमूल्य चिह्न है। परन्तु मनुष्य का सम्वन्ध केवल इस ससार या दूसरे मनुष्यो से ही नही है। उसका सम्वन्ध परमात्मा से भी है। धार्मिक जीवन का प्राण, ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर पर भरोसा करना है। ईश्वर प्रणिवान हमारे आचार को नये रग मे रग देता है। यह नियमो में सर्वोत्तम है। •

२. आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार।

आसन उस बैठक का नाम है, जिसमें स्थिर सुख हो। (४६)

आसन के सिद्ध हो जाने पर द्वन्द्वो (सर्दी, गर्मी, सुख, दुख) की चोटें नही लगती। (४८)

आसन के सिद्ध होने पर प्राणायाम सधता है। प्राणायाम अन्दर आने वाली और वाहर जाने वाली वायु को रोकना है।

(अ) प्राणायाम तीन प्रकार का है —

वाह्यवृत्ति (जिसमें वायु को वाहर फेंक कर रोका जाता है।)

आभ्यन्तर वृत्ति (जिसमे वायु को अन्दर खीच कर रोक लिया जाता है।)

स्तम्भ वृत्ति (वायु जहाँ है, वही उसे रोक दिया जाता है।)

(आ) देश, काल और सख्या की अपेक्षा से प्राणायाम भिन्न-भिन्न जाना जाता है। (भिन्न भिन्न प्रकार का होता है)।

(इ) प्राणायाम लम्वा और सूक्ष्म है।

विवेक (ज्ञान) पर जो पर्दा पडा है, वह प्राणायाम से दूर हो जाता है और धारणाओ मे मन की योग्यता होती है।

अपने विषयो के साथ सम्वन्ध न रहने से इन्द्रियो का चित्तस्वरूप सा हो जाना प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार से इन्द्रियो पर पूर्ण विजय हो जाती है।

३. धारणा, ध्यान और समाधि।[1]

चित्त का किसी एक देश (स्थान) मे बाँधना धारणा है।

इस स्थान मे वृत्ति की एकाग्रता ध्यान है।

---

[1] धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन विभूतिपाद में किया गया है, परन्तु साधन होने से इनको साधनपाद का ही भाग समझना चाहिए।

जब ध्यान मे केवल अर्थ भासता है और उसका अपना स्वरूप शून्य हो जाता है, तो उसे समाधि कहते है।

[जब निशाना लगाने वाला अपने आप को, तीर को और कमान को भूल जाता है और उसका ज्ञान केवल उस पदार्थ तक सीमित हो जाता है जिसपर उसे तीर फेकना है, तब वह ठीक निशाना लगा सकता है। समाधि का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने आप को और अपनी सारी वृत्तियो को भूल जाय और केवल ईश्वर का ध्यान करे। उसी का ज्ञान उसे रह जाय और बस।]

धारणा, ध्यान और समाधि का एक होना सयम कहलाता है।

सयम सिद्ध हो जाने पर प्रज्ञा (सर्वोत्तम बुद्धि) का प्रकाश होता है।

योग की भूमियो में क्रम से धीरे-धीरे सयम की स्थिरता करनी चाहिए (१-६)।

अध्याय ४

भगवद्गीता

१—कुलधर्म

कुल के नाश होने से कुल का सनातन धर्म नष्ट हो जाता है। कुल धर्म नष्ट होने से अधर्म कुल को अपने पञ्जे मे पकड लेता है। (१–४)

अधर्म की वृद्धि से कुल की स्त्रियो का आचार बिगड जाता है। ऐसी दुराचारी स्त्रियो की सन्तान वर्णसङ्कर होती है। (१–४१)

कुल का नाश करने वाले ऐसे वर्णसङ्कर पैदा करने वालो के दोष से जाति-धर्म और कुल-धर्म नाश हो जाते हैं। (१–४३)

जिन लोगो का कुल धर्म इस प्रकार नष्ट हो जाता है उनका वास नरक में होता है। (१–४४)

२—आत्मा नित्य है

जिस प्रकार प्राणी को इस शरीर मे लडकपन, यौवन और बुढापा प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार मृत्यु के उपरान्त उसे अन्य शरीरो की प्राप्ति होती है। उसके सम्बन्ध में बुद्धिमान पुरुष को शोक नही होता। (२–१३)

जिस पदार्थ का अस्तित्व ही नही, उसको सत्ता प्राप्त नही हो सकती; और जो कुछ वास्तव मे है, उसका नाश नही हो सकता। तत्व के ज्ञाता, ज्ञानी पुरुषो ने यही दोनो में भेद देखा है। (२–१६)

कोई आत्मा को मारने वाला बताता है, कोई समझता है कि यह मारा जाता है। यह दोनो अज्ञानी है। आत्मा न मारता है, न मरता है। (२–१९)

यह आत्मा न कभी पैदा होता है, न कभी मरता है, ऐसा भी नही कि पैदा भी हो और फिर मर भी जाय। यह अजन्मा है, अनादि है, शरीर के टूट-फूट जाने पर भी इसका नाश नही होता। (२–२०)

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र उतार कर, नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को त्याग कर नये शरीर को ग्रहण करता है। (२–२२)

आत्मा को न शस्त्र काट सकते है, न आग जला सकती है, न पानी उसे गीला कर सकता है, न वायु उसे सुखा सकती है। (२–२६)

जो उत्पन्न हुआ है, उसे मरना अवश्य है। जो मरता है, उसके लिये पुनर्जन्म अवश्य है। जब यह होना ही है, तब उसके लिये शोक करना व्यर्थ है। (२–२७)

३—आत्मा की उन्नति और अवनति

जैसे कछुआ अपने अङ्गो को अपने अन्दर समेट लेता है, वैसे ही इन्द्रियो को उनके विषयो से खीच लेने पर, मनुष्य की बुद्धि स्थिर हो जाती है।

इन्द्रियो को विषयो से हटा लेने से विषय तो दूर हो जाते है, परन्तु इनका रस (राग) बना रहता है। यह रस तो तभी दूर हो सकता है, जब मनुष्य परमात्मा का दर्शन कर लेता है। (२–५९)

४—कर्मयोग

कोई भी प्राणी क्षण भर के लिये भी कर्म किये विना नही रह सकता। प्रकृति के गुणो से विवश हो कर सब को कर्म करना ही पडता है। (३–५)

जो कर्म तुम्हारे लिये निश्चित है, उसे करो। कर्म न करने से, कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म न करने से शरीर का स्वास्थ्य भी स्थिर नही रह सकता। (३–८)

यज्ञ के लिये किये हुए कर्मों को छोडकर दूसरे कर्म वन्धन का कारण है। आसक्ति या मोह को छोडकर कर्म करो। (३–६)

यज्ञ से वचे हुए भाग का सेवन करने वाले पुरुष सव पापो से छूट जाते है। जो पुरुष केवल अपने लिये पकाते है, वे पापी, पाप रूप भोजन करते है।[1] (३–१३)

आसक्ति रहित होकर सदा कर्तव्य कर्म करो। जो पुरुष इस भाव से कर्म करता है, वह परमात्मा को प्राप्त होता है। (३–१६)

जिस कर्म को महान पुरुष करते है, साधारण पुरुष उसी का अनुकरण करते है। जिस वात को वे प्रमाण मानते है, या जिस वात की वे प्रतिष्ठा करते है, लोग उसी के पीछे चल पडते है। (३–२१)

अपना कर्तव्य पालन करना श्रेष्ठ है, चाहे वह कर्तव्य, दूसरो के कर्तव्य की अपेक्षा वहुत उच्च कोटि का न हो। अपना कर्तव्य करते हुए, अपना जीवन व्यतीत कर देना अच्छा है। दूसरे के कर्तव्य को अपना लेना भय का कारण है।[2] (३–३५)

---

[1] यज्ञ से सारे परोपकार के कार्य समझे जा सकते है। इन दो श्लोकों का अभिप्राय यह है कि जो काम अपने स्वार्थ को परे रख कर किये जाते है, उनको करते हुए मनुष्य स्वतंत्र रहता है। शेष सब कार्यों के करने में वह अपने आप को स्वार्थ की जंजीरो में बाँध लेता है। काम करना और कमाना मनुष्य का कर्तव्य है, परन्तु अपनी कमाई का एक भाग, परोपकार में लगाना चाहिये। जो पुरुप केवल अपने लिये अपनी कमाई करता है, वह पाप का जीवन व्यतीत करता है।

[2] समाज के संगठन नें भिन्न भिन्न कार्य करने की आवश्यकता होती है। एक पुरुष एक काम को कर सकता है, दूसरा दूसरे काम को। प्रत्येक को अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। सैनिक यदि सोचे कि सेनापति

५—ज्ञान और कर्म

जो पुरुष कर्म में अकर्म और अकर्म मे कर्म देखता है, वह मनुष्यो में बुद्धिमान है। वह योगी सम्पूर्ण कर्मों का करने वाला है। (४–१८)

[जो पुरुष निष्काम भाव से कर्म करता है, वह बन्धन से मुक्त रहता है। उसके सम्बन्ध मे कह सकते है कि वह कुछ करता ही नही। उसके कर्म अकर्म ही है। ऐसा पुरुष जब दूसरो की दृष्टि मे कुछ नही करता, तो भी वह वास्तव मे कुछ करता ही है। लालटेन जलती है, तो उसके परिश्रम के बिना ही ज्योति उसके चारो ओर फैल जाती है। उसके लिये प्रकाशित होना और प्रकाश फैलाना, एक ही बात है। इसी प्रकार योगी पुरुष, अपने स्थान पर बैठा हुआ दूसरो के जीवन को पवित्र करता है। उसका अकर्म भी कर्म ही है।]

जिस मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म इच्छा और सङ्कल्प से रहित है, जिसने ज्ञानरूपी अग्नि से कर्मों को जला दिया है, वह ज्ञानी पुरुषो की दृष्टि में पण्डित है। (४–१९)

जो पुरुष कर्म-फल और आसक्ति को त्याग कर सदा तृप्त रहता है

का काम उत्तम है, उसे वही करना चाहिये, तो वह कार्य उससे तो हो नहीं सकेगा, अपने कर्तव्य को भी वह छोड़ देगा। पाँव मस्तिष्क का कार्य नही कर सकते। उन्हें समझना चाहिये कि जीवन के लिये चलना भी उतना ही आवश्यक है, जितना विचार करना आवश्यक है। इस अध्याय में तीन बातो पर बल दिया गया है:—१. कर्म करना आवश्यक है, २. कर्म निष्काम भाव से करना चाहिये, ३. जो अपना कर्तव्य है, उसे ही सर्वोत्तम कर्तव्य समझना चाहिये। प्रत्येक पुरुष अपनी प्रकृति और योग्यता के अनुसार ही उन्नति कर सकता है। इसी में उसका भला है। इसी में समाज का भला है।

श्रौर किसी का सहारा गहण नही करता (किसी की सहायता पर निर्भर नही, अर्थात् स्वतत्र है) वह कर्म करता हुश्रा भी कुछ नहीं करता। (उसके कर्म को भी अकर्म समझना चाहिये।) (४–२०)

जिसने श्राशाये छोड दी है। चित्त श्रौर श्रात्मा को वश मे कर लिया है श्रौर सारी भोग सामग्री से मुख मोड लिया है, ऐसा पुरुष शरीर से कर्म करता हुश्रा भी पाप से बचा रहता है। (४–२१)

जिस प्रकार प्रचण्ड श्रग्नि ईंधन को जला देती है, वैसे ही ज्ञान रूपी श्रग्नि, सब कामो को भस्म कर देती है। (४–३७)

जिस पुरुष में श्रद्धा हो, जिसने मन श्रौर इन्द्रियो को वश मे कर लिया हो, वही ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान को प्राप्त करके, वह शीघ्र ही शान्ति की अवस्था मे पहुँच जाता है। (४–३९)

जिस पुरुष ने ज्ञान प्राप्ति नही की, जो श्रद्धा से रहित है, जिसके मस्तिष्क मे सशय भरे है, वह नाश हो जाता है। सशयात्मा पुरुष के लिये न सुख है, न यह लोक है, न परलोक है। (४–४०)

जो पुरुष योग के द्वारा कर्म बन्धन से मुक्त हो गया है, जिसने ज्ञान के द्वारा, सारे सशयो को छिन्न भिन्न कर दिया है, ऐसे धार्मिक पुरुष को कर्म नही बाँधते। (४–४१)

६—श्रवनति का मार्ग

विषयो का चिन्तन करने से, उनमे प्रेम पैदा होता है। प्रेम से काम उत्पन्न होता है। काम से (काम के मार्ग मे बाधा पडने से) क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह (Mental confusion) उत्पन्न होता है श्रौर मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। इससे बुद्धि का नाश हो जाता है। जब बुद्धि नष्ट हो गई तो यह समझ लो कि मनुष्य का अन्त हो गया। (४–६२–६३)

७—योगी के लक्षण

सांख्य और योग (ज्ञान और कर्म) को मूर्ख लोग, अलग अलग बतलाते है, विद्वान नही। इनमे से, एक में भी स्थित हुआ पुरुष, दोनो के फल को प्राप्त करता है। (५–४)

सांख्य (ज्ञान योग) द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, वही कर्म योग द्वारा भी प्राप्त होता है। जो पुरुष इस प्रकार दोनो की एकता देखता है, वही वास्तव मे देखने वाला है। (५–५)

जो पुरुष ब्रह्म मे अर्पण करके और आसक्ति का त्याग करके कर्म करता है, वह पाप से इसी प्रकार मुक्त रहता है, जैसे कमल का पत्ता पानी के प्रभाव से बचा रहता है। (५–१०)

योगी पुरुष आत्म शुद्धि के लिये शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियो से भी कर्म करते है। परन्तु वे इन कर्मो को आसक्ति से बचकर करते है। (५–११)

योगी कर्म फल को छोड कर पूर्ण शान्ति प्राप्त करते है। जो पुरुष फल की कामना से कर्म करते है, वे इस कामना के कारण, बन्धन मे पडते है। (५–१२)

जो पुरुष, शरीर का नाश होने से पहिले (जीवन में ही) काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन कर सकते है, वे ही योगी और सुखी है। (५–२३)

वह पुरुष जो अन्दर से सुखी है, (जिसके सुखो का स्रोत आत्मिक है) जो अन्दर ही रमण करनेवाला है (जो अपना समय ज्ञान ध्यान में ही व्यय करता है) और अन्दर ही प्रकाश से युक्त है, वह योगी बहुत श्रेष्ठ निर्वाण अवस्था को प्राप्त करता है। (५–२४)

जिनके सब पाप नष्ट हो गये है, सशय छिन्न भिन्न हो गये है, ऐसे सयमी पुरुष ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करते है। (५–२५)

काम क्रोध से रहित, चिन्ता को वश में किये हुये, आत्म ज्ञानी यती पुरुषो के चारो ओर निर्वाण ही विद्यमान रहता है। (५-२६)

८—अपने भाग्य का बनाना बिगाड़ना हमारे हाथ में ही है

मनुष्य को चाहिये कि अपने यत्न से ही अपना उद्धार करे। आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे। आत्मा आप ही अपना मित्र है, और आप ही अपना शत्रु है। (अपने भाग्य का बनाना बिगाडना मनुष्य के अपने हाथ मे है।) (६-५)

जिस मनुष्य ने अपने आप को जीत लिया है, वह अपना बन्धु (मित्र) है। परन्तु जिसने अपने आप पर विजय प्राप्त नही की है, वह अपना शत्रु है। (६-६)

जिस मनुष्य ने अपने ऊपर विजय प्राप्त कर ली है और जो विशेष रूप से शान्त है, ऐसे पुरुष के अन्दर, परमात्मा एकरस उपस्थित रहता है। सर्दी गर्मी, सुख, दु ख, मान, अपमान का प्रभाव उस पर कुछ नही होता। (६-७)

जिस मनुष्य का अन्त करण ज्ञान विज्ञान से तृप्त है, जो उदासीन है, जिसने इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर ली है और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सोना एक जैसे है, उस योगी को युक्त कहते है। (६-८)

९—शान्ति का उपाय

अभ्यास से ज्ञान उत्तम है, ज्ञान से ध्यान उत्तम है, ध्यान से भी बढ कर कर्मफल का त्याग है। जब यह त्याग जीवन मे आ जावे तो, शान्ति प्राप्त हो जाती है। (१२-१२)

[मनुष्य सासारिक पदार्थों के पीछे भटकते रहते है, परन्तु उनमें से एक मिलता है और दूसरे के लिये दौडना आरम्भ हो जाता है। इस दौड से मनुष्य तग आ जाता है और जानने लगता है कि यह तो ठीक मार्ग नही।

वह शान्ति की खोज करने लगता है। शान्ति की खोज कैसे की जाती है? बहुतेरे लोग अभ्यास (तपस्या) को साधन बनाते है। साधारण साधु इस श्रेणी मे है। कोई ज्ञान को साधन बनाते है और उसके लिये अपना समय धार्मिक पुस्तको के स्वाध्याय में लगाते है। कई तपस्या और ज्ञान के स्थान मे ध्यान को मुख्य साधन बनाते है। यह ध्यान ही दार्शनिक विचार है। दार्शनिक लोग इसे उत्तम साधन समझते है। गीता के इस श्लोक में बताया गया है कि शान्ति का सबसे अच्छा उपाय यह है कि मनुष्य अपने आप को कर्मक्षेत्र मे रक्खे, अपना कर्तव्य पालन करे, परन्तु कर्मफल की इच्छा को त्याग दे। वर्तमान युग में स्वामी दयानन्द जी ने भी सन्यास का यही आदर्श हमारे सामने रक्खा है।]

१०—कृष्ण का प्यारा कौन है?

जो किसी से द्वेष नही करता, जो प्राणी मात्र का मित्र है, दयाशील है, जो ममता और अहकार से रहित है, जिसके लिये सुख और दुःख दोनो समान है, जो क्षमावान है—

जो सर्वदा सन्तुष्ट, स्थिरचित्त, सयमी तथा दृढ निश्चयी है और जिसने मन और बुद्धि मुझे अर्पण कर दिये है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

जिससे न लोगो को भय है और न जो लोगो से डरता है, जो हर्ष, क्रोध, भय आदि उद्वेगो से मुक्त हो गया है, वह मुझे प्रिय है।

जो किसी का मुहताज नही है, पवित्र, दक्ष, उदासीन और दुःख-रहित है तथा जिसने सर्व प्रकार के कार्यों का आरभ करना छोड दिया है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

जो न किसी से प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, जो न शोक करता है और न आकाक्षा करता है; जिसने शुभ और अशुभ दोनो का परित्याग कर दिया है, जो भक्तिमान है, वह मुझे प्रिय है।

जो शत्रु और मित्र को, मान और अपमान को, शीत और उष्ण को,

तथा सुख और दुःख को समान समझता है, जो आसक्ति रहित है—

जिसके लिये निन्दा और स्तुति समान है, जो मौन रहता है, जो जो कुछ मिल जाय उसी में सतुष्ट रहता है, जो गृहविहीन तथा स्थिर बुद्धिवाला है, वह भक्तिमान पुरुष मुझे प्रिय है।

जो मुझ में श्रद्धा रखकर, मुझे मान कर, इस उपरोक्त अमृत के समान हितकारक धर्म का आचरण करते है, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।

११—मनुष्यों मे प्रकृति-भेद

सत, रज, तम—यह तीन गुण प्रकृति से पैदा होते है। यह तीनो अविनाशी जीव को इस शरीर मे बाँधते है। इनमें से सतोगुण पवित्र और दुखरहित होने से जीव को सुख और ज्ञान से बाँधता है।

रजोगुण अनुरागात्मक है। यह तृष्णा को उत्पन्न करता है और जीव को कर्म-सङ्ग (कर्म के प्रेम) से बाँधता है।

तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है। यह सब प्राणियो को मोह मे जकड़ता है। यह प्रमाद, आलस्य और नीद से जीव को बाँधता है।

'सत्' सुख से, 'रज' कर्म से और 'तम' प्रमाद से जोड देता है।

'रज' और 'तम' वश मे हो जायँ (दबाये जायँ) तो सत् का प्रकाश होता है। सत् और तम के दबने से रज प्रकट होता है। सत् और रज के दबने से तम प्रकट होता है।

जब सत् प्रधान होता है, तो इस शरीर के सब द्वारो मे प्रकाश उत्पन्न होता है। (मनुष्य को हर प्रकार का ज्ञान हो जाता है)।

जब रजोगुण प्रधान होता है तो लोभ, कर्म मे लगन, नये नये कामो का आरम्भ करना, अशान्ति और वासनाओ का प्रकाश होता है।

जब तमोगुण प्रधान होता है तो अज्ञान, आलस्य, प्रमाद और मोह उत्पन्न होते है।

जो पुरुष सङ्ग (कर्मों के मोह) से स्वतन्त्र है, जिसमे अहङ्कार नही;

जिसमें धृति और उत्साह है; जो सफलता प्राप्त करने पर प्रसन्न नही होता और असफल होने पर शोक नही करता, वह कर्ता 'सात्विक' कहलाता है। (१८-२६)

जो राग मे फँसा है, कर्मफल की इच्छा करता है, लोभी है, कठोर है, अपवित्र है, जो हर्ष शोक में फँसा है, वह कर्ता 'राजसिक कर्ता' कहलाता है।

जिस पुरुष का कोई निश्चित चरित्र नही, जो सभ्य नही, जो हठी है, दूसरो का अपमान करता है, आलसी है, जिसका स्वभाव कठोर है, जो समय पर कार्य नही करता, ऐसा कर्त्ता 'तामसिक कर्त्ता' कहलाता है।

[इन वृत्तियो का प्रभाव मनुष्य के जीवन और उसके सारे कार्यो पर पडता है। भगवद्गीता के १७-१८वें अध्यायो मे इसको विस्तार से कहा गया है। मनुष्य अपनी अपनी वृत्ति के अनुसार अपना भोजन चुनते है। उनका 'यज्ञ', उनका तप, उनका 'दान', उनका त्याग, उनका 'ज्ञान' उनके सव कार्य इन वृत्तियो से प्रभावित होते हैं। जो कुछ अज्ञान और मोह के प्रभाव से किया जाता है, वह 'तामसिक' है। जो कुछ स्वार्थ के लिये किया जाता है, वह 'राजसिक' है। जो केवल धर्म के विचार से किया जाता है, वह 'सात्विक' है। तामसिक भावो से तो सव को वचना चाहिये। साधारण गृहस्थी के जीवन मे रजोगुण का प्रभाव होता है। सन्यास मे सतोगुण का। वर्णो में क्षत्रियो का जीवन विशेप करके रजोगुण का प्रकाश करता है, व्राह्मण का जीवन सत्व-गुण का। सन्यासी और व्राह्मण का पद वहुत ऊँचा है। परन्तु यदि कोई जाति सारी की सारी व्राह्मण और सन्यासियो की जाति वनना चाहे, तो दूसरी जातियां उसे जीने ही नही देगी।]

१२—देव और असुर

जो पुरुष दैवी सम्पत्ति मे उत्पन्न होता है, उसमे निम्नलिखित २६ गुण पाये जाते है—निडरता, पवित्रता, ज्ञान, योग मे स्थिरता, दान देना,

इन्द्रियो को वश में रखना, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा (वैर त्याग) सत्य, क्रोध न करना, त्याग, शान्ति, दूसरो की निन्दा न करना, दीनो पर दया करना, सन्तोष, कोमल स्वभाव, बुरे कामो के करने में लज्जित होना, चञ्चलता को छोड देना, तेज, क्षमा, धृति, शौच, सबसे मित्र भाव रखना, अभिमान न करना। १६ (१–३)

जो पुरुष आसुरी सम्पत्ति मे पैदा होते है, उनमे यह गुण पाये जाते है —दम्भ (पाखण्ड), दर्प (धनादि का मद), अभिमान, क्रोध, असभ्यता और अज्ञान। १६ (४) आसुरी वृत्ति के लोग यह नही जानते कि क्या करना चाहिये और क्या नही करना चाहिये। उनमे न पवित्रता होती है, न आचार, न सत्य ही होता है।

उनका सिद्धान्त यह होता है कि ससार का कोई आधार नही, इसमें कोई सत्यता नहीं, इसका बनाने वाला ईश्वर भी नही। काम के वश में स्त्री पुरुष का सयोग होता है। इसी से सृष्टि उत्पन्न होती है। इससे परे कुछ नही।

"आज मैंने यह प्राप्त कर लिया है, कल मेरी वह इच्छा पूरी हो जायगी, यह धन मिल ही गया है, वह भी शीघ्र ही मिल जायगा, इस शत्रु को समाप्त कर दिया है, दूसरो को भी निपटा दूंगा, मैं स्वामी हूँ, भोग मेरे वश में है, मै सफल हूँ, मै बलवान हूँ, सुखी हूँ, धनवान हूँ, कुलीन हूँ, मेरे जैसा दूसरा कौन है ? अब मै यज्ञ भी कर लूंगा, दान भी दे दूंगा और आनन्द करूँगा।"

इन विचारो मे पडे हुए आसुरी वृत्ति के लोग, नरक मे गिरते है। १६ (१३–१६)

१३—नरक द्वार

काम, क्रोध और लोभ तीन द्वार नरक को ले जाने वाले है। यह आत्मा का नाश करने वाले है। इन तीनो से बचो। १६ (२१)

जो पुरुष इन तीनो से मुक्त हो जाता है, वह अपनी भलाई के लिये काम करता है और परम गति को प्राप्त करता है। जो पुरुष शास्त्र विधि को त्याग कर काम के वश मे कर्म करता है, वह न तो सफल होता है, न उसे सुख मिलता है और न परमगति। १६ (२३)

इसलिये यह जानने के लिये कि 'क्या करना है और क्या नही करना है', सत्य शास्त्रो को अपने लिये प्रमाण बनाओ। शास्त्रो से यह ज्ञान प्राप्त करके ही, तुम कर्म करने के अधिकारी बनते हो। १६ (२४)

१४—जीव, प्रकृति और परमात्मा

इस जगत मे जो कुछ है, वह दो भागो में बँट सकता है। एक नाशवान और दूसरे न नाश होने वाले पदार्थ। बाह्य जगत के सब पदार्थ नाशवान है। अमर आत्मा में परिवर्तन नही होता। १५ (१६)

इन दोनो से पृथक् उत्तम पुरुष है। जिसे परमात्मा कहते है। वह तीनो लोको मे वर्तमान रहता है। वही इन दोनो का स्वामी और इनका पालन करने वाला है। १५ (१७)

१५—त्याग

त्याग तीन प्रकार का बताया जाता है :—

यज्ञ, दान और तप, यह तीन कर्म त्यागने योग्य नही है, इन्हे करना ही चाहिये। बुद्धिमान पुरुष के जीवन को, यह तीनो पवित्र करते है।

परन्तु इन कर्मो को भी राग और फल की कामना को छोड कर करना चाहिये। नियत कर्म (जिसे एक पुरुष ने अपना कर्तव्य स्वीकार कर लिया है) का त्याग उचित नही। यदि मोह या अज्ञान के कारण ऐसे कर्म को न किया जाय तो ऐसा त्याग, 'तामसिक त्याग' कहलाता है।

'कर्म करने से कष्ट होता है' जो पुरुष ऐसा विचार कर कष्ट से बचने

के लिये कर्म नही करता, उसका त्याग राजसिक है। उसे त्याग का फल नही मिलता। 'यह तो करना ही चाहिये' जो पुरुप इस भाव से कर्तव्य कर्म करता है, और मोह और कर्म फल की इच्छा से प्रभावित नही होता, उसका त्याग सात्विक कहलाता है। १८ (४–६)

किसी पुरुप के लिये यह तो सभव ही नही है कि वह कर्म करना सम्पूर्ण-तया छोड दे। जिस पुरुष ने कर्मफल की कामना को छोड दिया है, वही त्यागी है। १८ (११)

१६—सफलता प्राप्त करने के उपाय

जहाँ योगेश्वर कृष्ण है और जहाँ धनुर्धर अर्जुन है, वहाँ ही, धन सम्पत्ति, विजय, ऐश्वर्य और नीति है, यह मेरा मत है। १८ (७८)

भगवद्गीता के अन्तिम श्लोक में इसकी शिक्षा का निचोड वयान किया गया है। किसी जाति की उन्नति के लिये न ब्राह्मण पर्याप्त है और न क्षत्रिय। जहाँ दोनो मिल जाते है, वहाँ सव कुछ प्राप्त हो जाता है। यह श्लोक राजनीति का मौलिक नियम है।

१७—मिश्रित

क्षत्रिय के लिये धर्मयुद्ध से वढ कर, कोई वस्तु कल्याणकारी नही। ऐसा युद्ध, ईश्वर कृपा से प्राप्त हो कर क्षत्रिय के लिये स्वर्ग का द्वार होता है। यह भाग्यवान क्षत्रियो को ही मिलता है। २ (३१–३२)

कर्म करो, कर्मफल की आशा मत करो। कर्मफल को ही कर्म करने का कारण मत वनाओ और निकम्मे भी मत रहो। (२।४७)

जव सारे प्राणी सोते है तो सयमी पुरुप जागता है, और जव दूसरे प्राणी जागते है तव सयमी ज्ञानी पुरुप सोता है। २ (६९)

(जिन वस्तुओ के सम्वन्व मे साधारण पुरुष इतने व्याकुल होते है

उनके सम्वन्ध मे सयमी पुरुप को कोई चिन्ता नही होती। जिन वस्तुओ से साधारण पुरुप उदासीन होते है, वह सयमी पुरुप की दृष्टि में वहुमूल्य होती है।)

जो मनुष्य कर्म फल का आश्रय न लेकर, कर्म इस कारण करता है कि वह कर्तव्य है, वह सन्यासी और योगी है। कर्मकाण्ड और कर्तव्य काम के त्याग से मनुष्य सन्यासी और योगी नही वन जाता।

जिस परमात्मा से सव प्राणी हुए है, जिसने सव ससार को फैलाया है, उसकी पूजा अपने कर्म द्वारा करके, मनुष्य सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त करता है। १८ (४६)

अध्याय ५

महाभारत

१—धर्मराज्य क्या है ?

नारद ने युधिष्ठिर से उनके राज्य के सम्बन्ध मे कुछ प्रश्न किये। इन प्रश्नो से प्रतीत होता है कि नारद की सम्मति में धर्मराज्य कैसा राज्य होता है। इन प्रश्नी मे से कुछ नीचे दिये जाते है —

१. क्या तुम्हारे पास सामग्री पर्य्याप्त है ? क्या तुम्हारा मन धर्म में लगा रहता है ? जिन लोगो को तुमने राज्यमत्री नियत किया है, क्या वे कुलीन और अपने कर्तव्य को भली-भाँति पालन करने वाले है ?

२. क्या तुम्हारे किलो में धन, अन्न, पानी, शस्त्र, यन्त्र, कारीगर और सैनिक पर्य्याप्त है ?

३ क्या तुम सेना को वेतन समय पर देते हो ?

४. क्या तुम विद्वानो की सहायता उनकी योग्यतानुसार धन से करते हो ?

५. जो सिपाही युद्ध में मर जाते है, क्या तुम उनके परिवार की पालना करते हो ?

६. क्या तुम सम्वन्धियो, गुरुजनो, वूढो, व्यापारियो और कारीगरो को, जो कष्ट मे हो, सहायता देते हो ?

७. जो कर्मचारी अपना काम कर सकते हो और स्वामिभक्त भी हो, उन्हें, किसी दोष के विना, अपने पद से हटा तो नही देते ?

८. क्या खेती के लिये राज्य में विखरे हुए वडे वडे पानी के तालाव है ? खेती केवल वर्षा पर ही तो निर्भर नही है ?

९ क्या राज्य की आर्थिक दशा, अच्छे और योग्य पुरुषो के प्रवन्ध में है ? इस लोक में उसी राज्य मे सुख हो सकता है जिसकी आर्थिक दशा अच्छी हो।

१०. क्या आग से, विषैले जन्तुओ से, रोगो मे राज्य को सुरक्षित रखने का प्रवन्ध किया हुआ है ?

११. क्या अन्धो, गूंगो, लूलो, अपाहिजो, अनाथो और साधु-सन्तो की सहायता के लिये कुछ प्रवन्ध किया हुआ है ?

१२. क्या अपने जीवन मे, तुमने इन दोषो को छोड दिया है —

वहुत सोना, आलस्य, भय, क्रोध, नरम स्वभाव, कामो का लटकाये जाना। (सभापर्व)

२—वर्णधर्म

ब्राह्मणो का काम वेद और वेदाङ्गो का पढना, पढाना है। ब्राह्मण सत्य वोले और दूसरो को सत्य का उपदेश दे। अन्य वर्णो के लिये जो कार्य नियत है, उनमे और ऐसे कामो से जिनसे उसकी निन्दा हो, दूर रहे। जो धन उसे प्राप्त हो सके, उसके ६ भाग करे। एक भाग यज्ञ हवन के लिये, दूसरा दान के लिये, तीसरा माता पिता की सेवा के लिये, चौथा धन देने वाले के कल्याण के लिये, पाँचवाँ अपने लिये और छठा अपने परिवार के लिये वर्त्ते।

ब्राह्मण को चाहिये कि किसी से द्वेष न करे, सवसे मित्रभाव रक्खे। भिक्षा माँगने का स्वभाव न वना ले। जव गृहस्थ आश्रम को छोड दे तो वन में वास करे और किसी से कुछ न माँगे। दिन भर मे एक वार जो कुछ हाथ आये, खाये।

क्षत्रिय का धर्म है कि ब्राह्मण का मान करे। दान दे, किसी से कुछ न माँगे। शत्रुओ को मारे और युद्ध क्षेत्र में प्राण छोडे। रण मे मरने वाला क्षत्रिय सीधा स्वर्ग को जाता है।

न्याय करने से राजा को वही पदवी प्राप्त होती है जो धर्मात्मा ब्राह्मण को तपस्या से मिलती है। राजा का एक न्याययुक्त काम सैकडो वर्षों की तपस्या के समान फल देता है।

वैश्य का धर्म है वेद पढे, अपने लिये सम्मान वाली आजीविका का प्रवन्ध करे। धन सग्रह करे। पशुओ का पालन करे। यदि उसके पास ६ गायें हो, तो साल मे एक राजा को भेट दे; एक ब्राह्मण को दे, शेष अपने पास रक्खे। व्यापार में लगाये हुए धन का सातवाँ भाग लाभ में ले।

शूद्र का धर्म है कि दूसरे वर्णो की सेवा करे, दु ख मे उन्हें पीडा न दे। धन इकट्ठा करना उसका काम नही। (जो धन इकट्ठा करने की योग्यता रखता है, वह तो वैश्यो में गिना जावेगा, शूद्र नही)।

(शान्ति पर्व)

३—यक्ष और युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तर

युधिष्ठिर की परीक्षा

द्वैत वन में कुछ ब्राह्मण पाण्डवो के पास आये और कहा कि एक हिरन उनके पात्र को, जिससे वे हवन करने के लिये अग्नि तैयार करते है, सीगो में उलझा कर ले गया है। वे उनके पात्र को ढूँढ कर ला दें। पाण्डवो ने इसे स्वीकार किया और उस पात्र की खोज मे निकले। इस खोज में वे थक कर, एक वृक्ष के नीचे वैठ गये। सव प्यासे थे। युधिष्ठिर ने कहा—"कही से पानी लाना चाहिये।" छोटे भाई, एक दूसरे के पीछे सब तालाव पर गये और वहाँ पानी पीते ही मूर्छित हो गये। जव वे लौट कर न आये तो युधिष्ठिर भी वहाँ पहुँचे। वे पानी पीने ही लगे थे कि उन्हे आकाशवाणी सुनाई दी। वाणी ने कहा—"पहिले मेरे प्रश्नो का उत्तर दे लो, फिर पानी पीना, नही तो तुम्हारी दशा भी वही होगी, जो तुम्हारे भाइयो की हुई है। उन्होने मेरे रोकने पर भी, मेरे प्रश्नो का उत्तर दिये विना पानी पीने का साहस किया। इसलिये उनका प्राणान्त हो गया। तुम

उनके उदाहरण से कुछ लाभ उठाओ।"

युधिष्ठिर ने कहा, "पूछो, क्या पूछते हो? जो कुछ मैं जानता हूँ, बता दूँगा।"

आकाशवाणी ने यक्ष का रूप धारण कर लिया। यक्ष और युधिष्ठिर में जो प्रश्नोत्तर हुए, उनमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं—

प्रश्न—धर्म का एक मात्र साधन क्या है?
यश का एक मात्र साधन क्या है?
स्वर्ग पहुँचने का एक मात्र साधन क्या है?
सुख प्राप्ति का एक मात्र साधन क्या है?

उत्तर—अपने कर्तव्यों को सोच समझ कर करना धर्म का साधन है।
दान देना यश प्राप्ति का साधन है।
सत्य से स्वर्ग मिलता है।
शील, अच्छे आचरण, से सुख प्राप्त होता है।

प्रश्न—कौन व्यक्ति मनुष्य का आत्मा है? परमात्मा की ओर से नियुक्त मित्र कौन है?

उत्तर—पुत्र मनुष्य का आत्मा (उसका अपना स्वरूप) ही है। धर्मपत्नी ही सबसे बडा मित्र है।

प्रश्न—धनो में सर्वोत्तम धन कौन है?
लाभो में सर्वोत्तम लाभ कौन सा है?
सुखो मे सर्वोत्तम सुख कौन सा है?

उत्तर—धनो में सर्वोत्तम धन विद्या है।
लाभो में सर्वोत्तम लाभ स्वास्थ्य है।
सुखो में सर्वोत्तम सुख सन्तोप है।

प्रश्न—धर्मों मे श्रेष्ठ धर्म क्या है?
किस धर्म का फल सदा मिलता रहता है?
चिन्ता और फिक्र से छूटने का उपाय क्या है?

किस मित्र की मित्रता कभी बूढी नही होती ?

उत्तर—प्राणियो को अभय दान देना सबसे श्रेष्ठ धर्म है।

तीन प्रकार का धर्म (कर्म, उपासना और ज्ञान) कभी निष्फल नही होता।

जो लोग अपने मन को वश में कर लेते है, उनको चिन्ता नही होती।

भले पुरुषो की मित्रता कभी बूढी नही होती।†

प्रश्न—किस शत्रु पर विजय प्राप्त करना कठिन है ?

कौन सा रोग असाध्य है ?

साधु और असाधु पुरुष मे क्या अन्तर है ?

उत्तर—क्रोध का जीतना बहुत कठिन है।

लोभ ऐसा रोग है, जिसकी कोई औषधि नही।

साधु पुरुष वह है, जो दूसरो का हित करता है। असाधु पुरुष वह है जो केवल अपने लिये जीता है।

प्रश्न—सबसे बडा स्नान क्या है ?

सबसे बड़ा दान क्या है ?

---

† अरस्तू ने कहा है कि मित्रता तीन प्रकार की होती है : एक स्वार्थ के लिये, जैसे धनी और बलवान से मित्रता; दूसरी आनन्द या भोग के लिये, इसका आधार प्रियतम का सौन्दर्य होता है। तीसरी मित्रता का मूल ज्ञान और धर्म है। इसका उद्देश्य यह होता है कि दोनो मित्रो का ज्ञान और धर्म एक दूसरे की सहायता से बढे। जब हमारा धनी या बलवान मित्र धनी या बलवान नहीं रहता, या हम भी धनी या बलवान बन जाते है, तो इस मित्रता का अन्त हो जाता है। सौन्दर्य भी दिनो की बात है। सदा स्थिर रहने वाली (कभी बूढी न होने वाली) मित्रता तो वही है जिसकी नींव धर्म और ज्ञान की चेष्टा पर हो। इसी को युधिष्ठिर ने भले पुरुषो की मित्रता कहा है।

उत्तर—मन के मैल को दूर करना, सवसे वडा स्नान है।
प्राणियो की रक्षा करना सवसे वडा दान है।

प्रश्न—सवसे वडा ग्राश्चर्य क्या है ?

उत्तर—नित्य लोग मृत्यु के मुँह मे जाते है। परन्तु जो जीते है वे यह देख कर भी सदैव जीते रहने की इच्छा करते है। उन्हे ग्रपनी मृत्यु का ध्यान नही ग्राता। इससे वढ कर ग्राश्चर्य क्या हो सकता है ?

यक्ष ने कहा—"मुझे जो कुछ पूछना था, मैने पूछ लिया। ग्रव तुम्हारे एक भाई को फिर जीवित कर सकता हूँ। वताग्रो किसे जीवित करूँ ?

युधिष्ठिर ने कहा · "नकुल को जीवित कर दो।"

यक्ष "नकुल को ? वह तो तुम्हारी सौतेली माँ का पुत्र है। ग्रर्जुन ग्रौर भीम तुम्हारे सगे भाई है। उनका ध्यान तुम्हे क्यो नही ग्राता ?

युधिष्ठिर "मेरी यही इच्छा है कि नकुल को जीवित कर दो। इस प्रकार जहाँ मेरी ग्रपनी माता का एक पुत्र जीवित होगा वहाँ मेरी सौतेली माता का भी एक पुत्र जीवित होगा। धर्म यही चाहता है। यही मेरी इच्छा है।"

यक्ष ने ग्रव ग्रपने ग्रापको प्रकट कर दिया ग्रौर कहा . "मै धर्म हूँ, मैने यह सारा खेल तुम्हारी परीक्षा के लिये रचा था। तुम इस परीक्षा में पूरे उतरे हो। मैं तुम्हारे सव भाइयो को जीवित करता हूँ।" यह कह कर धर्म वहाँ से गायव हो गया।[1]

---

[1] युधिष्ठिर की परीक्षा एक वार फिर भी धर्म ने की। युधिष्ठिर स्वर्ग जाने के लिये प्रस्तुत थे। जव विमान पर वैठने लगे तो उन्होने ग्रपने स्वामिभक्त कुत्ते की ग्रोर देखा; कुत्ता ग्रागे वढा। विमान चलाने वालो ने कहा, "हम तो ग्रापको स्वर्ग में ले जाने के लिये ग्राये है; वहाँ कुत्तो के लिये कोई स्थान नहीं"। युधिष्ठिर पीछे हट गये ग्रौर कहा, "जिस स्वर्ग

४—राग और तृष्णा

मानसिक दुख से शरीर का सन्ताप भी उत्पन्न हो जाता है। जैसे घडे मे रक्खा हुआ जल गरम किये हुए लोहे से गरम हो जाता है।

जैसे जल से अग्नि को बुझाया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान से मानसिक दुख को शान्त करना चाहिये। मन के शान्त होने पर शारीरिक दुख भी दूर हो जाता है।

मानसिक दुख का कारण स्नेह या मोह है। स्नेह के कारण ही मनुष्य विशेष कार्यों के करने के लिये बेचैन होता है और दुख के साथ सयोग प्राप्त करता है।

स्नेह दुख का मूल है। स्नेह से भय उत्पन्न होता है। स्नेह से ही हर्ष, शोक और परिश्रम पैदा होते हैं।

जैसे वृक्ष के कोटर में बची हुई थोडी सी अग्नि, वृक्ष को समूल जला डालती है, उसी प्रकार थोडा सा राग द्वेष भी धर्म और अर्थ को नष्ट कर देता है।

राग से घिरा हुआ मनुष्य, इच्छाओ द्वारा खिंचा जाता है। इच्छाओ के उत्पन्न होने पर तृष्णा उत्पन्न हो जाती है।

बेसमझ लोग तृष्णा को छोड नही सकते। मनुष्य बूढा हो जाता है परन्तु उसकी तृष्णा बूढी नही होती। यह ऐसे रोग के समान है जो मनुष्य जीवन का अन्त करके ही उसका पीछा छोडता है। इस तृष्णा को छोडने मे ही सुख है।

में मैं अपने स्वामिभक्त कुत्ते को साथ नहीं ले जा सकता, मुझे उसकी आवश्यकता नहीं। ऐसे स्वर्ग से वर्तमान दशा ही अच्छी है।" उस समय धर्म प्रकट हुआ और कहा, "तुम परीक्षा में पूरे उतरे, तुमने धर्म को आगे रक्खा है और स्वर्ग के सुख को पीछे। यही कहना ठीक था।"

कोई मनुष्य सारी कामनाओ को पूरा नही कर सकता। सन्तोष ही परम सुख है। यौवन, रूप, जीवन, धन, ऐश्वर्य, घरबार सब अनित्य है। बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि इनके स्नेह मे फँस न जाय।

(वनपर्व)

५—भीष्म के उपदेश

महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया। कौरव हार गये और पाण्डव जीत कर राजसिंहासन के स्वामी हो गये। युधिष्ठिर ने राज्य करना आरम्भ किया। परन्तु उनके मन में न सुख था, न शान्ति। रह रह कर उनको इस बात का ध्यान आता था कि यह विजय उनको कितनी मँहगी पडी है। जो राज्य सम्बन्धियो और निर्दोष मनुष्यो का रक्त बहा कर प्राप्त किया जावे, वह किस काम का? कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा — "तुम्हारे मन में अशान्ति है। तुम भीष्म जी के पास जाओ और अपनी कठिनाई का वर्णन करो। वे तुम्हे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जायँगे। धर्म का ज्ञान रखने वालो मे भीष्म सबसे श्रेष्ठ है। जब वे नही रहेंगे तो संसार ऐसा तमोमय हो जायगा, जैसे चन्द्रमा के न रहने से रात्रि हो जाती है। भीष्म जीवन और मृत्यु के बीच लटक रहे है। जाओ, उनसे जो कुछ पूछना है, पूछ लो।" युधिष्ठिर कृष्ण, कृप और पाण्डवो के साथ कुरुक्षेत्र मे पहुँचे। भीष्म ने जो उपदेश उस समय दिये, उनमे से कुछ नीचे दिये जाते है। जीवन का रहस्य जैसा इसे भीष्म ने समझा था, इन उपदेशो में वर्णन किया गया है —

(१)

सत्य धर्म सब धर्मो से उत्तम धर्म है। 'सत्य' ही सनातन धर्म है। 'तप और योग' सत्य से ही उत्पन्न होते है। शेष सब धर्म, सत्य के अन्तर्गत

ही हैं।[1]

सत्य बोलना, सब प्राणियो को एक जैसा समझना, इन्द्रियो को वश मे रखना, ईर्षा द्वेष से बचे रहना, क्षमा, शील, लज्जा, दूसरो को कष्ट न देना, दुष्कर्मो से पृथक् रहना, ईश्वर भक्ति, मन की पवित्रता, साहस, विद्या—यह तेरह सत्य धर्म के लक्षण है। वेद सत्य का ही उपदेश करते है। सहस्रो अश्वमेध यज्ञो के समान सत्य का फल होता है।

सत्य ब्रह्म है; सत्य तप है, सत्य से मनुष्य स्वर्ग को जाता है। झूठ अन्धकार की तरह है। अन्धकार मे रहने से मनुष्य नीचे गिरता है। स्वर्ग को प्रकाश और नरक को अन्धकार कहा है।

ऐसे वचन बोलो जो दूसरो को प्यारे लगे। दूसरो को बुरा भला कहना, दूसरो की निन्दा करना, बुरे वचन बोलना, यह सब त्यागने के योग्य है। दूसरो का अपमान करना, अहङ्कार और दम्भ, यह अवगुण हैं।

वेद का उपनिषद (रहस्य, तत्त्व) सत्य है। सत्य का उपनिषद दम

---

[1] एक अँगरेज दार्शनिक ने कहा है कि सब पाप झूठ का रूप है। चोर दूसरे का धन चुराता है। वह अपने कर्म से कहता है: "यह धन उसके स्वामी का नहीं परन्तु मेरा है।" जो पुरुष दूसरे के साथ किसी प्रकार का छल करता है, वह अपने कर्म से दूसरे को कहता है: "तुम मेरे भाई नहीं, जिसके प्रति मुझे अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये।" जब एक मनुष्य अपनी धर्मपत्नी को मारता है, तो एक प्रकार से उससे कहता है: "तुम मेरी पत्नी नहीं; मै तुम्हारा पति नही।"

(मन को वश में करना) है। दम का उपनिषद (अन्तिम उद्देश्य) मोक्ष है। इस शिक्षा में शेष सब शिक्षायें आ जाती हैं।

(२)

इस लोक में जो सुख कामनाओं को पूरा करने से मिलता है और जो सुख परलोक में मिलता है, वह उस सुख का सोलहवाँ हिस्सा भी नहीं है जो कामनाओं से मुक्त होने पर मिलता है।

जब मनुष्य अपनी वासनाओं को अपने अन्दर खींच लेता है, जैसे कछुआ अपने सब अङ्ग भीतर को खींच लेता है, तो आत्मा की ज्योति और बड़ाई दिखाई देती है।

मृत्यु और अमृतत्व—दोनों मनुष्य के अपने आधीन हैं। मोह का फल मृत्यु और सत्य का फल अमृतत्व है।

संसार को बुढ़ापे ने हर ओर से घेरा है। मृत्यु का प्रहार उस पर हो रहा है। दिन जाता है, रात बीतती है। तुम जागते क्यों नहीं? अब भी उठो। समय व्यर्थ न जाने दो। अपने कल्याण के लिये कुछ कर लो। तुम्हारे काम अभी समाप्त नहीं होते कि मृत्यु तुम्हें घसीट ले जाती है।

स्वयं अपनी इच्छा से निर्धनता का जीवन स्वीकार करना सुख का हेतु है। यह मनुष्य के लिये कल्याणकारी है। इससे मनुष्य क्लेशों से बच जाता है। इस पथ पर चलने से मनुष्य किसी को अपना शत्रु नहीं बनाता। यह मार्ग कठिन है, परन्तु भले पुरुषों के लिये सुगम है। जिस मनुष्य का जीवन पवित्र है और इसके अतिरिक्त उसकी कोई सम्पत्ति

नही; उसके समान मुझे दूसरा दिखाई नही देता। मैंने तुला के एक पल्ले में ऐसी निर्धनता को रक्खा और दूसरे पल्ले में राज्य को। अकिञ्चनता का पल्ला भारी निकला। धनवान पुरुष तो सदा भयभीत रहता है, जैसे मृत्यु ने उसे अपने जवडे मे पकड रक्खा है।

त्याग के विना कुछ प्राप्त नही होता। त्याग के विना परम आदर्श की सिद्धि नही होती। त्याग के विना मनुष्य भय से मुक्त नही हो सकता। त्याग की सहायता से मनुष्य को हर प्रकार का सुख प्राप्त हो जाता है।

वह पुरुष सुखी है, जो मन को साम्यावस्था में रखता है; जो व्यर्थ चिन्ता नही करता। जो सत्य बोलता है। जो सासारिक पदार्थों के मोह मे फँसता नही, जिसे किसी काम के करने की विशेष चेष्टा नही होती।

जो मनुष्य व्यर्थ अपने आपको सन्तप्त करता है, वह अपने रूप रङ्ग, अपनी सम्पत्ति, अपने जीवन और अपने धर्म को भी नष्ट कर देता है। जो पुरुष शोक से बचा रहता है, उसे सुख और आरोग्यता, दोनो प्राप्त हो जाते है।

सुख दो प्रकार के मनुष्यो को मिलता है। उनको जो सबसे अधिक मूर्ख[1] है; दूसरे उनको जिन्होने बुद्धि के प्रकाश मे तत्व को देख लिया है। जो लोग बीच मे लटक रहे है, वे दुखी रहते है[1]।

---

[1]आलमे बेखबरीमें खूब ही गुजरी गालिब,
होश जाते रहे आया जो जरा होश मुझे।

श्रेष्ठ और सज्जन पुरुष का चिह्न यह है कि वह दूसरो को धनवान देख कर जलता नही। वह विद्वानो का सत्कार करता है और धर्म के सम्बन्ध मे प्रत्येक स्थान से उपदेश सुनता है।

जो पुरुष अपने भविष्य पर अधिकार रखता है (अपना पथ आप निश्चित करता है, दूसरो के हाथ की कठपुतली नही बनता), जो समयानुकूल तुरन्त विचार कर सकता है और उस पर आचरण करता है, वह पुरुष सुख को प्राप्त करता है। आलस्य मनुष्य का नाश कर देता है।

भोजन अकेले न खाये। धन कमाने का विचार करे तो किसी को साथ मिला ले। यात्रा भी अकेला न करे। जहाँ सब सोये हुए हो, वहाँ अकेला जागरण न करे।

यह दो बडे तीव्र काँटे हैं और शरीर को सुखा देने वाले हैं :—

१ एक यह कि निर्धन हो और बहुत सी कामनाये रक्खे।

२. दूसरे यह कि बल तो कुछ हो नही और क्रोध करता रहे।

दो प्रकार के मनुष्य उत्तम गति को प्राप्त करते है —

१ परिव्राजक योगी (सन्यासी)।

२ युद्ध में सम्मुख लड कर मरने वाला क्षत्रिय।

---

(३)

जो पुरुप अपने आपको वश मे करना चाहता है उसे लोभ और मोह से मुक्त होना चाहिये।

दम के समान कोई धर्म नही सुना गया है। दम क्या है? क्षमा, घृति, वैर-त्याग, समता, सत्य, सरलता, इन्द्रिय सयम, कर्म करने में उद्यत रहना, कोमल स्वभाव, लज्जा, वलवान चरित्र, प्रसन्न चित्त रहना, सन्तोप, मीठे वचन वोलना, किसी को दुख न देना, ईर्ष्या न करना, यह सव दम में सम्मिलित है।

कामनाओ को त्याग देना, उन्हे पूरा करने से श्रेष्ठ है। आज तक किसी मनुष्य ने अपनी सव कामनाओ को पूरा किया है? इन कामनाओ से वाहर आओ। पदार्थ के मोह को छोड दो। शान्त चित्त हो जाओ।

लोग अनेक प्रकार के मोह में जकडे हुए हैं। उनकी दशा ऐसी है, जैसी रेत के पुल की जो नदी के वेग के साथ नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार तिल कोल्हू मे पेरे जाते है, उसी प्रकार वे मनुष्य पेरे जाते है जो ससार के मोह मे फँसे है। वूढा हाथी कीचड मे फँस जाता है और निकल नही सकता। वैसी ही दशा उस मनुष्य की है जो मोह मे फँसा हुआ है।

जो कल करना है, उसे आज ही कर लो। मृत्यु यह नही देखती कि तुमने अपना कार्य अभी समाप्त नही कर पाया है। वह तुम्हारे लिये प्रतीक्षा नही करेगी।

बुद्धिमान पुरुष, रात्रि के पहले और अन्तिम भाग में भगवान का ध्यान करता है। अपना भोजन कम कर देता है और अपना मन शुद्ध करता है। इस प्रकार उसे अपनी आत्मा में ही परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं।

शत्रु, ऋण और अग्नि को कभी थोडा नही समझना चाहिये। यह वढते ही जाते हैं। यही दशा रोग की है। इन्हे कम करने का यत्न करना चाहिये।

जिस देश में रहे, उसकी रीति व्यवहारो पर चलना चाहिये।

(४)

धर्म कार्य करते हुए मृत्यु हो जाना, पाप करते हुए विजय प्राप्त करने की अपेक्षा कही अच्छा है।

पाप का मूल क्या है? लोभ पाप का मूल है। लोभ से पाप उत्पन्न होता है। इसीसे दुख उत्पन्न होता है। लोभ ही छल कपट का मूल है। इसीसे दूसरी बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। जो पुरुष अपने आपको वश में करना चाहता है, उसे लोभ और मोह से मुक्त होना चाहिये।

जो लोग अपने आचरण की नीव धर्म पर नही रखते, वे अनाज के पास भूसे की तरह हैं, वे पक्षियो मे पतिङ्गो की तरह है।

गृहस्थाश्रम से वढ कर कोई धर्म नही। परन्तु जब गृहस्थ मोह मे फँस जाता है, तो नाना प्रकार के दुख झेलता है और आवागमन के चक्कर में पड जाता है। मन और इन्द्रियो को वश मे रखना गृहस्थ का तप है।

मृत्यु के पीछे माता, पिता, भाई, वन्धु साथ नही जाते, न कुछ सहायता कर सकते है। केवल धर्म ही साथ जाता है और सहायता देता है । अनुचित मोह को छोड, धर्मानुसार जीवन व्यतीत करने से ही इस जीवन मे सुख मिलता है और इसके पीछे कल्याण होता है। जो पुरुप ऐसा नही करता उसे न तो इस लोक में सुख मिलता है और न इसके पीछे मिलेगा।

धर्म का महत्त्व शूर वीरता से वना रहता है। धर्म वीरता और पराक्रम के आधीन है।

सर्वप्रिय वनने के साधन क्या है? मनुष्य उदार हो, दृढ हो, वडो का मान करे और मीठे वचन वोले।

सदाचार, स्मृति और वेद तीन प्रकार का धर्म का लक्षण वताया गया है। कुछ लोग अर्थ को भी चौथा लक्षण वताते है।

(५)

राग, द्वेप, मोह, हर्प, शोक, अभिमान, क्रोध, आलस्य ये सव अज्ञान से उत्पन्न होते है और अज्ञान के ही रूप है।

विद्या के समान कोई आँख नही। सत्य के समान कोई तप नही। राग (सासारिक पदार्थों में अति मोह) के समान कोई दुख नही। त्याग के समान कोई सुख नही।

ज्ञान सव पदार्थों का आधार है। ज्ञान सवसे वडा लाभ है। ज्ञान ही इस लोक में सवसे वडा कल्याण है। भले पुरुप ज्ञान को स्वर्ग ही समझते है।

अध्याय ६

धम्म पद

महात्मा बुद्ध के उपदेश

१—शुद्ध आचरण

इस ससार में द्वेष द्वेष से शान्त नही हो सकता। इसे शान्त करने का उपाय अद्वेष या वैर त्याग है। यह प्राचीन नियम (सनातन धर्म) है।

कई झगडने वाले लोग यह अनुभव नही करते कि किसी समय हम सब को इस ससार से चल देना है। हाँ, कुछ लोग ऐसे भी है जो इस बात को अनुभव करते है। वह अपने झगडो का निर्णय कर लेते है।

जिस पुरुष ने गेरुये वस्त्र धारण कर लिये है, परन्तु अपवित्र भावों से मुक्त नही हुआ और दम और सत्य से बेपरवाह है, वह गेरुये वस्त्रो का अधिकारी नहीं।

गेरुये वस्त्रो का अधिकारी वह है जिसने अपना जीवन पवित्र बना लिया है, जो धर्म के नियमो पर आचरण करता है, जिसे दम और सत्य की चिन्ता है।

जिस प्रकार निर्बल छत मे वर्षा का पानी धँस जाता है, उसी प्रकार चञ्चल मन में विषयो का राग प्रवेश कर जाता है।

इस लोक और परलोक मे पापी मनुष्य रोता चिल्लाता है। जब वह अपने कर्मों का चिन्तन करता है तो उसे शोक और दुख होता है।

धर्मात्मा पुरुष, इस लोक और परलोक मे सुखी होता है। जब वह अपने अच्छे कर्मों का चिन्तन करता है तो उसकी प्रसन्नता बढती जाती है।

यदि एक पुरुष धार्मिक पुस्तको का स्वाध्याय बहुत करता है, परन्तु उस पर आचरण नही करता, तो वह एक ऐसे ग्वाले की तरह है, जिसका काम केवल दूसरे की गउयें गिनना है (उनके दूध में उसका कोई भाग नही)। ऐसे पुरुप के जीवन मे भिक्षु या सन्यासी जीवन का कोई अङ्ग नही।

२—जागते रहो

जो पुरुष जागता है, वह ऐसे मार्ग पर चलता है, जो अमर जीवन की ओर ले जाता है। प्रमाद का मार्ग मृत्यु की ओर ले जाता है। जो जागते है, वे मृत्यु से स्वतन्त्र है। जो प्रमाद मे फँसे है, वे मानो अभी मर चुके है।

जिन लोगो ने जाग्रत के इस चिह्न को समझ लिया है, वे उसमें आनन्द का अनुभव करते है और ऐसे कामो की ओर खिच जाते है, जिन्हें आर्य पुरुष अपनाते है।

अपना समय प्रमाद में मत बिताओ। न शारीरिक सुखो की चेष्टा करो। जो पुरुष जागता है और ज्ञान ध्यान मे अपना समय व्यय करता है, वही सच्चे आनन्द को प्राप्त करता है।

जिस प्रकार पहाड की चोटी पर खडा हुआ पुरुष उन लोगो को जो नीचे खडे हुए है देखता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुप, जिसने अपनी जागृति से अज्ञान को दूर कर दिया है, ज्ञान के ऊँचे स्थान से दुखी मनुष्यो पर नीचे दृष्टि डालता है।

प्रमाद में फँसे हुओ में जागता हुआ, सोये हुओ मे सावधान, ज्ञानी पुरुष आगे बढता है, जिस प्रकार एक बलवान घोडा, निर्बल घोडो से आगे निकल जाता है।

३—मनुष्य का सबसे अच्छा मित्र और सबसे बड़ा शत्रु उसका अपना मन है

भले पुरुष को चाहिये कि अपने शरीर को मिट्टी के घडे की तरह निर्बल

समझे और अपने मन को किले की तरह दृढ समझे। तब वह पाप का सामना, ज्ञान की कृपाण से करे और वासनाओ से मुक्त हो कर, अपनी विजय की इच्छा करे।

जितनी हानि किसी मनुष्य को उससे वैर करने वाला पहुँचा सकता है, या जितना दुख उसे उसका शत्रु दे सकता है, उससे अधिक क्लेश उसे उसका अपना मन टेढे मार्ग पर चल कर देता है।

जितना लाभ मनुष्य को उसका अपना मन सीधे मार्ग पर चल कर पहुँचा सकता है, उतना उसके माता पिता या वन्धु नही पहुँचा सकते।

४—फूल की तरह बनो

जिस प्रकार शहद की मक्खी फूलो से शहद ले कर चल देती है और फूलो के रग और गन्ध को हानि नही पहुँचाती, उसी प्रकार मुनि को ग्राम मे विचरना चाहिये।

मनुष्य को दूसरो की दुर्वलताओ का ध्यान नही करना चाहिये। उसे अपने सम्वन्ध में सोचना चाहिये कि उसने कहाँ अनुचित कर्म किया है, और कहाँ जो करना चाहिये था, नही किया।

जो पुरुष अच्छे शब्द वोलता है, परन्तु आप उन पर आचरण नही करता, उसका कथन ऐसे फूल की तरह है, जो सुन्दर है, अच्छे रग का है, परन्तु सुगन्ध से हीन है।

उस पुरुष के प्रतिकूल जो पुरुष अपने कथन पर आचरण भी करता है, उसके शब्द ऐसे सुन्दर फूल की तरह है जिसमे रग के साथ गध भी है।

फूलो की सुगन्ध चाहे वे चन्दन, तगर या चमेली के फूल हो, वायु के प्रतिकूल नही जा सकती। परन्तु एक धर्मात्मा पुरुष की सुगन्ध वायु के प्रतिकूल भी जा सकती है। ऐसे पुरुष अपनी सुगन्ध के साथ सब स्थानो मे प्रवेश कर लेते है।

५—वाल वुद्धि

जिस पुरुष को नीद नही आती, उसके लिये रात वहुत लम्वी है। जो वहुत थका है, उसके लिय योजन वहुत लम्वा अन्तर है। उन वाल वुद्धि पुरुषो के लिये, जिन्हे धर्म का ज्ञान नही, ससार-चक्र वहुत लम्वा है।

यदि किसी पुरुप को अपने से अच्छा पुरुप नही मिल सकता, अपने समान पुरुष भी नही मिल सकता, तो उसे चाहिये कि अपना समय एकान्त मे व्यतीत करे। मूर्ख की सगति से प्रत्येक दशा में वचना चाहिये।

अज्ञानी पुरुप यह चिन्ता करके अपने आपको दुखी करता है कि "यह मेरा पुत्र है, यह मेरा धन है।" जव वह अपना स्वामी भी आप नही तो पुत्र और धन का स्वामी कैसे हो सकता है?

अज्ञानी पुरुप जीवन भर ज्ञानी पुरुप की सेवा करता रहे तो भी उसे धर्म का ज्ञान प्राप्त नही होता। कडछी स्वादिप्ट भोजन वाँटती है परन्तु आप उनका स्वाद नही ले सकती। इसके प्रतिकूल वह पुरुप जिसकी वुद्धि तीव्र है, वुद्धिमान की सेवा थोडे समय तक के लिये करने पर भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ऐसे पुरुप की अवस्था जिह्वा की अवस्था की तरह है, जो पदार्थों का स्वाद भी लेती है।

वुरे कर्म का फल तुरन्त प्रकट नही होता। दूध भी दुहे जाने पर तुरन्त खट्टा नही हो जाता। जिस प्रकार अग्नि राख से ढकी हुई रहती है, उसी प्रकार वुरा कर्म अज्ञानी पुरुष का पीछा नही छोडता।

६—पण्डित के लक्षण

जो पुरुष धर्म का जलपान करता है, वह हर प्रकार से सुखी रहता है। उसका मन शान्त है। पण्डित सदा भले पुरुपो से दी हुई शिक्षा में आनन्द की खोज करता है।

किसान पानी को वश मे करते है। तीर वनाने वाले गरम करके तीर को सीधा करते है, वढई कमान को वनाता है, पण्डित अपने आपको शासन में करते है।

जिस प्रकार आँधी चट्टान को हिला नही सकती, उसी प्रकार निन्दा और स्तुति पण्डित को अस्थिर नही कर सकते।

जव पण्डित धर्म की चर्चा प्रसन्नता से सुनते है, तो वे एक गहरी स्वच्छ और पवित्र झील की तरह हो जाते है।

धर्मात्मा पुरुप अनित्य पदार्थो की चेष्टा को त्याग देते है। सुखो की खोज मे वे अपने आपको अशान्त नही करते। पण्डित सुख प्राप्ति से फूल नही जाता और दुखो से घवराता भी नही।

कोई विरला पुरुष ही दूसरे किनारे पर पहुँचता है। साधारण पुरुष तो नदी के इधर के किनारे पर ऊपर नीचे दौडते रहते है। जो लोग धर्म पर आचरण करते है, वे पाप पर विजय प्राप्त करके दूसरे किनारे पर पहुँच जायेंगे।

पण्डित को चाहिये कि अन्धकारमय जीवन त्याग कर उज्ज्वल जीवन व्यतीत करे। गृहस्थी को छोड कर वेघर हो जाय। इच्छाओ का त्याग कर दे। भोगो से हट कर, सव कुछ छोड छाड़ कर, उसे अपने मन को पवित्र करना चाहिये।

७—सिद्ध पुरुप

जिन लोगो के पास अपनी कोई सम्पत्ति नही, जो नियमानुसार भोजन करते है, जो अनित्य पदार्थो के खोखले पन को जान कर स्वतन्त्र हो गये है, उनके आचरण के अनुसार अपना आचरण वनाना वैसा ही कठिन है, जैसा वायुमण्डल मे उडने वाले पक्षी के पथ पर चलना कठिन है।

मनुष्य में सवसे वडा वह है जो अन्धविश्वास से मुक्त है, जिसने सत्य को देख लिया है, जिसने जन्म मरण की गाँठो को काट दिया है, जिसने

हर प्रकार के कामो के अवसर का अन्त करके सारी चेष्टाओ को त्याग दिया है।

सुहावना स्थान वही है, जहाँ भले पुरुष रहते हो। वह ग्राम हो या जगल, जल पर हो या पृथ्वी पर, इससे कुछ भेद नही पडता।

८—सच्चा सूरमा कौन है

जिस पुरुष ने अपने आप पर शासन कर लिया, वह सहस्रो वैरियो को सहस्रो वार जीतने वालो से भी वडा विजेता है।

दूसरो पर शासन करने की अपेक्षा अपने आप पर शासन करना उत्तम है। यदि एक पुरुप अपने आप पर विजय प्राप्त कर लेता है और सयम से रहता है, तो कोई शक्ति भी उसकी विजय को निष्फल नही कर सकती।

९—पाप

यदि किसी पुरुष से पाप-कर्म हो जाय, तो उसे करते नही रहना चाहिये। पाप के पीछे चलते रहना ठीक नही है। पाप का परिणाम दुख होता है।

यदि कोई अच्छा कर्म करे, तो उसे वार बार दुहराना चाहिये। भले कामो के लिये, वलवान चेष्टा अपने अन्दर उत्पन्न करना चाहिये। ऐसे कर्मों का फल सुख होता है।

जव तक वुरे कर्मों का फल पूरा प्रकट नही हो जाता (बुरा कर्म पक नही जाता), उसे करने वाला उसमे सुख अनुभव करता है। जब वुरे कर्म का फल पूरा प्रकट हो जाता है, तव पापी पुरुष को पाप कर्म के सम्बन्ध में पूरा ज्ञान होता है।

भला पुरुष भी (वहुधा) अच्छे कर्मो को उनके पकने के पहले वुरा समझता है। जव इन कर्मो का फल पूरा प्रकट हो जाता है, तव उनके सम्वन्ध में वास्तविक ज्ञान होता है।

जिस पुरुप के हाथ मे कोई घाव नही, वह विप को छू सकता है। ऐसे पुरुप पर विप का कोई प्रभाव नही होता। उसी प्रकार जिस पुरुप का जीवन पवित्र है, पाप उस पर प्रभाव नही डालता।

जो पुरुप चलती वायु के प्रतिकूल मिट्टी फेंकता है, वह मिट्टी उसी पर पडती है। इसी प्रकार जो मनुष्य एक निर्दोपी या निरपराधी को दुख देता है, उसके कर्मों का फल उस पर ही लौट आता है।

न आकाश में, न समुद्र की थाह मे, न पर्वतो की कन्दराओ मे कही ऐसा स्थान है, जहाँ जाकर पापी पुरुप अपने कर्मों के फल से वच सकता है, जहाँ मृत्यु उसे पकड नही सकती।

१०—पवित्र जीवन

किसी से कटु शव्द न कहो। जिन लोगो से ऐसे शव्द कहोगे, वे उत्तर देंगे। कडुये और क्रोध भरे शव्द दुख देते है। जो इनका उत्तर होगा, उससे तुम्हे भी चोट लग सकती है।

जिस प्रकार ग्वाला, अपने डण्डे से पशुओ को गोचरभूमि की ओर हाँक ले जाता है, उसी प्रकार वुढापा और मृत्यु मनुष्यो में से जीवन को निकाल देते हैं।

नग्न रहना, जटा रखना, मिट्टी मे रहना, व्रत रखना, भूमि पर सोना, शरीर पर भस्म मलना या साधुओ के आसन लगाना, किसी मनष्य को, जिसने अपने सशयो को दूर नही कर दिया, पवित्र नही कर सकते।

जिस पुरुप ने धार्मिक वृत्ति वना ली है; जो शान्त है, सयमी है, पवित्र जीवन विताता है, किसी को दुख नही देता, वह धनी पुरुषो का जीवन व्यतीत करते हुए भी ब्राह्मण है, साधु है, सन्यासी है।

११—जीवन अस्थिर है, इसका कुछ वना लो

प्रत्येक वस्तु आग में जल रही है। हँसने और खुशी मनाने का कौनसा

अवसर है? हर ओर से तुम अँधेरे से घिरे हुए हो, फिर भी तुम प्रकाश की खोज नही करते!

इस शरीर को देखो! वह नाना प्रकार के रूपो मे दिखाई देता है, जो नाशवान है, जो निर्बल और रोगी है, जो अनित्य है और निकम्मे विचारो का स्थान है।

यह शरीर निर्बल है, नाश होना इसका धर्म है, यह टूट फूट जाता है क्योकि जीवन का अन्त मृत्यु है।

यह श्वेत हड्डियाँ उन तोबो की तरह है, जिन्हे शरद ऋतु में फेंक दिया जाता है। इन्हे देखने से क्या आनन्द मिल सकता है?

यह शरीर हड्डियो का बना हुआ किला है। मास और रुधिर से लिया हुआ है। इसके अन्दर बुढापा, मौत, अभिमान और कपट छिपे हुए है।

सम्राटो के बहुमूल्य रथ समय व्यतीत होने पर निकम्मे हो जाते हैं। इसी प्रकार यह शरीर निकम्मा हो जाता है। "सत्य धर्म सदा एक रस रहता है।" ऐसा सन्त सन्तो को बताते है।

अज्ञानी पुरुप, जीवन को बैल की भाँति व्यतीत करता है। उसका मास बढता जाता है, किन्तु उसकी बुद्धि नही बढती।

जिन लोगो ने ब्रह्मचर्य का सेवन नही किया, जिन्होने यौवन में धन नही कमाया, उसके जीवन का परिणाम उन बगुलो की भाँति होता है, जो मछलियो से हीन तालाव मे रहते है और भूखे मर जाते है। ऐसे पुरुष टूटे हुए तीरो के समान होते है, जो बीते हुए समय का ध्यान करके शोक करते है।

१२—हमारा भाग्य हमारे हाथ में है

मनुष्य को चाहिये कि अपने लिये जीवन का कोई कार्य चुने। उसके पीछे दूसरो को शिक्षा दे। ऐसा करने से बुद्धिमान पुरुष चिन्ताओ से बच सकता है।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह जो कुछ दूसरो को बनाना चाहता है पहले आप वह बने। पहले अपने आपको वह वश मे कर ले, तब वह दूसरो को वश में कर सकता है। अपने आपको वश मे करना बहुत कठिन है।

मनुष्य आप ही बुरा कर्म करता है और आप ही अपने को कलङ्क लगाता है। आप ही बुराई से बचता और आप ही अपने को पवित्र बनाता है। पवित्रता और अपवित्रता मनुष्य के अपने हाथ मे है। कोई पुरुप किसी दूसरे को पवित्र कर नहीं सकता।[1]

दूसरो की बडाई देख कर, अपने अच्छे गुणो को त्याग नही देना चाहिये। जब मनुष्य यह अनुभव कर ले कि उसकी अपनी भलाई किस वस्तु मे है (अर्थात् वह आप किस दशा मे उन्नति कर सकता है), तो उसे चाहिये कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसके पीछे लग जाय।

१३—संसार

यह ससार अन्धकार मे लिपटा है। बहुत थोडे पुरुप है, जो इसमें देख सकते है। बहुत थोडे पुरुप ऐसे है जो पिंजडो से स्वतन्त्रता पाये हुए पक्षियो की तरह स्वर्ग को जाते है।

हस आकाश मे उडते है। अपनी असाधारण शक्ति के कारण, वे वायु मे इधर उधर जाते है। धीर पुरुप पाप और उसकी शक्तियो पर विजय पा कर ससार मे पार हो जाते है।

जिस पुरुप ने धर्म का नियम तोडा है, जो झूठ बोलता है, जिसने परलोक का ध्यान करना छोड दिया है, कोई पाप ऐसा नहीं, जिसे ऐसा पुरुप नहीं करेगा।

---

[1] अधिक से अधिक जो हम दूसरो के लिये कर सकते है, वह उनके हालात को अच्छा बनाना है। पुण्य और पाप मनुष्य की अपनी कमाई है। यह कर्म का सिद्धान्त है, जिस पर इतना बल दिया गया है।

१४—सुख कहाँ है ?

राग (काम) जैसी कोई अग्नि नही, द्वेप जैसा कोई दोष नही, जीवन जैसा कोई दुख[1] नही, शान्ति जैसा कोई सुख नही।

आरोग्यता परम लाभ है, सन्तोष परम धन है, विश्वास सबसे अच्छा बन्धु है, निर्वाण परम सुख है।

१५—धर्म का मार्ग

मार्गों मे आठ अङ्गो वाला मार्ग सर्वोत्तम है।
सच्चाइयो मे चार शब्द सर्वोत्तम है।
मानसिक अवस्थाओ मे वैराग्य सर्वोत्तम है।
मनुष्यो में ज्ञानी पुरुष सर्वोत्तम है।

यदि तुम इस मार्ग पर चलोगे, तो तुम अपने दुखो का नाश कर दोगे। जब से मुझे दुखो का ज्ञान हुआ है, तब से मैंने इस मार्ग का प्रचार किया है।

यत्न तो तुम्हे आप ही करना होगा। ज्ञानी पुरुष तो केवल मार्ग दिखाने वाले खम्भे है। जो लोग धर्म मार्ग पर चलते है और विचार करते है, वे पाप की जजीरो से मुक्त हो जायँगे।

---

[1] बुद्ध धर्म की शिक्षा के अनुसार जीवन स्वयं ही सबसे बड़ा दुख है। यह विचार हिन्दू जनता के हृदय में घर कर गया है। इसका परिणाम यह है कि जीवन से सब तङ्ग दिखाई देते है। जिसे पूछो : "क्या हाल है ?" कहेगा, "जो दम बीत जाय, वाह ! वाह ! !" इस भाव ने हमारी जाति को बहुत निर्बल कर दिया है। यह विचार वैदिक शिक्षा के सर्वथा विरुद्ध है।

"जो कुछ उत्पन्न हुआ है, वह अनित्य है।" जो पुरुष इस सत्य को जान लेता है उस पर कोई दुख प्रभाव नही डाल सकता। यह परम पवित्रता का मार्ग है।

"जो कुछ उत्पन्न हुआ है, वह दुखो मे फँसा है।"[१] जो पुरुष इस सच्चाई को जान लेता है, उस पर कोई दुख प्रभाव नही डाल सकता। यह परम पवित्रता का मार्ग है।

"जो कुछ उत्पन्न हुआ है, वह असत्य है।" जो पुरुष इस सच्चाई को जान लेता है, उस पर कोई दुख प्रभाव नही डाल सकता। यह परम पवित्रता का मार्ग है।

जो पुरुष देर करके जागता है, जो जवान और बलवान होने पर भी आलस्य करता है, जिसके मन में निकम्मे विचार भरे है, जो प्रमाद में फँसा है, ऐसा पुरुष धर्म के मार्ग को जान नही सकता।

अपनी जिह्वा को वश मे रक्खो। अपने मन को अच्छी तरह ढाँपो। अपने शरीर से कोई दुष्कर्म न करो। पहिले इन बातो पर आचरण करना चाहिये। उसके पीछे धर्म मार्ग को प्राप्त करने का समय आता है।

योग से बुद्धि उत्पन्न होती है। योग के अभाव से बुद्धि नष्ट हो जाती है। धर्म और अधर्म की ओर ले जाने वाले इन दोनो मार्गों को जानकर, मनुष्य को उस मार्ग पर चलना चाहिये, जो बुद्धि को बढाता है।

एक कामना को नही, वरन् कामनाओ के सारे वन को काट डालो।

---

[१] संसार में दुख तो है और बहुतेरा है, परन्तु यह कहने में कि जीवन दुखमय ही है, महात्मा बुद्ध बहुत दूर चले गये; और सुख से, जो संसार में उपस्थित है, आँख फेर ली। दुखवाद ने हिन्दुओ में जीवन की ओर से उदासीनता का भाव पैदा कर दिया है जिसने जाति को निर्बल बना दिया है। यह भाव वैदिक शिक्षा से प्रतिकूल है।

इस वन से भय उत्पन्न होता है। ऐ भिक्षुओ! बन के छोटे और वडे सब वृक्षो को काट दो और स्वतत्र हो जाओ।

"वर्षा मे यहाँ रहूँगा, सर्दी की ऋतु वहाँ बिताऊँगा, गर्मी के दिन वहाँ काटूँगा।" वेसमझ पुरुष ऐसे विचार करता है। वह नही जानता कि जीवन का कुछ भरोसा नही।

बाढ आती है और झोपडी मे सोये हुए मनुष्यो को बहा ले जाती है। इसी प्रकार मौत आती है और सन्तान, धन, सम्पत्ति के मोह में फँसे हुए मनष्यो को उठाकर ले जाती है।

जब मृत्यु आती है तब पिता, पुत्र, बन्धु कोई बचा नही सकता। यह जानकर कि यह लोग तो किसी काम नही आ सकते, बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि धार्मिक जीवन द्वारा अपने आप को सुरक्षित रक्खे और मुक्ति की ओर ले जाने वाले मार्ग को स्वच्छ करे।

१६—तृष्णा

वृक्ष काटा जाय, तो भी, यदि उसकी जडे स्थिर है, तो वह बार-बार उग आता है। इसी प्रकार तृष्णा भी यदि जड से न उखाड दी जाय, तो वार-बार प्रकट हो जाती है।

लोहे, लकडी और रस्सी की वेडियो को बुद्धिमान दृढ बेडियाँ नही कहते। उनकी दृष्टि मे रत्नो और कुण्डलो का प्रेम, स्त्री और बच्चो का मोह अधिक दृढ वेडियाँ है। यह मनुष्य को नीचे खीचती है और यद्यपि ये ढीली होती है, तो भी इनका तोडना कठिन है।

जो कुछ अभी होने वाला है, उसके सम्बन्ध मे चिन्ता न करो। जो कुछ हो चुका है, वह तो हो ही चुका। जो कुछ वर्तमान है, उसे भी त्याग-कर दूसरे किनारे पर पहुँच जाओ। यदि इस प्रकार तुम्हारा मन स्वतन्त्र हो जाय, तो तुम जन्म मरण के वन्धन से मुक्त हो जाओगे।

जो मनुष्य सशयो से व्याकुल है, जो राग मे फँसा है, जो केवल शारीरिक भोगो का ध्यान करता है, उसकी तृष्णा वढती जाती है। ऐसा पुरुष अपनी जजीरो को कसता जाता है। परन्तु जिस पुरुष ने अपने सशय दूर कर लिये है, जो सावधान है, जो भोगो के अशुभ गुणो पर विचार करता है, ऐसा पुरुष पाप के बन्धनो से मुक्त हो जायगा।

सब दानो मे धर्म का दान उत्तम है; सव रसो मे धर्म का रस उत्तम है, सव रुचियो मे धर्म की रुचि उत्तम है। तृष्णा का नाश करने से मनुष्य सारे दुखो पर विजय प्राप्त कर लेता है।

१७—भिक्षु (सन्यासी) कौन है ?

भिक्षु के गुण यह हैं —

उसका जीवन सयम का जीवन होता है।

वह ध्यान मे आनन्द अनुभव करता है। उसका मन चञ्चल नही होता। एकान्त मे उसे आनन्द होता है।

उसके व्यवहार मे नम्रता का प्रकाश होता है।

वह धर्म परायण होता है।

वह नाम रूप वाले पदार्थों को अपनी सम्पत्ति नही समझता।

वह ज्ञान और ध्यान को अपने जीवन मे सम्मिलित करता है।

हे भिक्षु ! इस शरीर रूपी नौका को खाली कर दो। जव यह खाली हो जायगी, तो सहज ही और शीघ्र गति से चलेगी। राग और द्वेष को छोड दो, तव तुम निर्वाण प्राप्त कर सकोगे।

भिक्षुओ ! ध्यान मे लगे रहो और प्रमाद मे न फँसो। अपने चित्त को काम के वश में न आने दो। ऐसा तो न करो कि पहिले लोहे का जलता हुआ गोला निगल लो और जव वह जलाये तो चिल्लाना आरम्भ कर दो— "हाय मै जल गया।"

भिक्षु कव शान्त कहलाता है ? जव वह कर्म मे शान्त हो, वाणी में शान्त

हो, विचारो मे शान्त हो, और इस ससार के भोगो को विलकुल त्याग दे।

१८—ब्राह्मण कौन है ?

जो स्वतन्त्र और निर्भय है, उसे मै ब्राह्मण कहता हूँ।

जो मनुष्य ज्ञान, ध्यान मे लगा रहता है, जो पाप से मुक्त है, जिसने अपना कर्तव्य पालन किया है और उत्तम गति को प्राप्त किया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

कोई मनुष्य जटा धारण करने से, गोत्र से या ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न होने से ब्राह्मण नही बन जाता। जिस मनुष्य मे सत्य और धर्म पाये जाते है, वह पवित्र है, वह ब्राह्मण है।

जिस पुरुष ने ससार के बन्धनो को तोड दिया है, जो सब चिन्ताओ से मुक्त है, जो सब सम्बन्धो से ऊपर हो चुका है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जो पुरुष निर्दोप है और धैर्य से निन्दा, दुख और कैद को सहारता है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ। जो पुरुप ऐसा सन्तोष रखता है, वह इसे अपनी सेना समझता है।

जिस पुरुष ने इस जीवन में ही दुखो का अन्त देख लिया है, जिसने अपना बोझ उतार दिया है, जो राग से मुक्त है, उसे मै ब्राह्मण कहता हूँ।

जो मनुष्य द्वेष करने वालो के साथ द्वेष नही करता, जो डण्डे का प्रयोग करने वालो के मध्य मे भी शान्त रहता है, जो विपयो मे फँसे हुए लोगो के मध्य मे भी स्वतन्त्र है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

किसी पुरुष को भी ब्राह्मण पर प्रहार नही करना चाहिये। यदि कोई उस पर प्रहार कर दे, तो ब्राह्मण को उससे द्वेष नही करना चाहिये। शर्म ऐसे पुरुष के लिये जो ब्राह्मण पर प्रहार करता है, उससे अधिक शर्म उस ब्राह्मण के लिये जो प्रहार करने वाले से द्वेष करता है।

आर्य-समाज के नियम

१—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करने चाहिये।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।